निमित्त उपादान मीमांसा

लेखक :

उपाध्याय कनकनन्दी

प्रकाशक :

धर्म दर्शन विज्ञान शोध प्रकाशन

निकट दिगम्बर जैन अतिथि भवन, बड़ौत, (मेरठ)

निमित्त-उपादान मीमांसा

(LAW OF CAUSE AND ACTION)

लेखक :

उपाध्याय कनकनन्दी

प्रकाशक :

धर्म दर्शन विज्ञान शोध प्रकाशन

निकट दिगम्बर जैन अतिथि भवन, बड़ौत, (मेरठ)

धर्म दर्शन विज्ञान शोध प्रकाशन ग्रन्थांक-10

निमित्त–उपादान मीमांसा

- **लेखक एवं संग्राहक :** एलाचार्य, उपाध्याय कनकनन्दी जी महाराज
- **आशीर्वाद :** गणधराचार्य श्री कुन्थुसागर जी महाराज
- **सहयोगी :** बालाचार्य श्री पद्मनन्दी जी, मुनि श्री कुमार विद्यानन्दी जी
  आर्यिका राजश्री माताजी, आर्यिका क्षमाश्री माताजी
- **सम्पादक मण्डल :** डा० (श्रीमती) नीलम जैन (पी-एच० डी०) देहरादून ।
  श्री सुशीलचन्द्र जैन (एम० एस-सी०, भौतिकी) बड़ौत ।
  श्री रघुवीर सिंह जैन (एम० एस-सी०, एल० एल० बी०) भूतपूर्व प्रोफेसर मुजफ्फरनगर ।
  श्री प्रभात कुमार जैन (एम० एस-सी०, रसायन प्रवक्ता) मुजफ्फरनगर ।
- **अध्यक्ष :** श्री प्रेमचन्द मित्तल (एम० ए०) शुभम् एन्टरप्राइजिज बड़ौत, मेरठ ।
  फोन : घर–2309, ऑफिस–2531
- **मन्त्री :** श्री सुदेश कुमार जैन (एम० ए०) बड़ौत ।
- **कोषाध्यक्ष :** श्री अनिल कुमार जैन (बी० ए०) बड़ौत ।
- **प्रचार मन्त्री :** कु० संगीता जैन (एम० कॉम०, बी० एड०) बड़ौत ।
- **प्रकाशन संयोजक :** श्री योगेश चन्द जैन, प्रैसीडेण्ट प्रेस, मेरठ कैन्ट ।
- **प्रकाशक एवं प्राप्ति स्थान—**
  धर्म दर्शन विज्ञान शोध प्रकाशन,
  कार्यालय : निकट दिगम्बर जैन अतिथि भवन, बड़ौत, मेरठ ।

- सर्वाधिकार सुरक्षित लेखकाधीन

- द्वितीय संस्करण–दिसम्बर 1991
- **प्रतियाँ :** 1100
- **मूल्य :** मात्र 7·00 रु०

- मुद्रक :
  प्रैसीडेण्ट प्रेस
  90, विवेकानन्द पथ
  मेरठ कैन्ट ।
  दूरभाष : 76708, 73143

आशीर्वाद

जिनेन्द्र देव ने संसारी प्राणी का कार्य निमित्त और उपादान दोनों से होना बताया है । अकेले निमित्त भी कुछ नहीं कर सकता है तथा अकेला उपादान ही से भी कार्य की सिद्धि नहीं हो सकती है । कार्य की सिद्धि के लिये, कार्य-कारण भाव होना परमावश्यक है, ऐसा ही परम्परा आचार्यों ने अपने आगम ग्रन्थों में प्रतिपादन किया है । "बिना निमित्ते न कुतो निवृत्ति" कार्य रूप उपादान की जागृति के लिये योग्य निमित्त होना चाहिये । जिस प्रकार "सम्यग्दर्शन उत्पत्ति के लिये अनादि मिथ्यादृष्टि जीव के लिये सद्गुरु का उपदेश" यह अकाट्य सिद्धान्त है । योग्य निमित्तों के बिना उपादान जाग्रत ही नहीं हो सकता । वर्तमान समय में निमित्त और उपादान में एकान्त दृष्टि की अपेक्षा बड़ी चर्चा है । कोई कहता है कि निमित्तों के द्वारा ही कार्य होता है, कोई कहता है कि मात्र उपादान से ही कार्य हो सकता है । इन समस्त चर्चित विषयों का समाधान हमारे संघस्थ एलाचार्य उपाध्याय सिद्धान्त-चक्रवर्ती कनकनंदी जी महाराज ने सुन्दर ढंग से, तर्क, अनुमान, आगम प्रमाणों के द्वारा **निमित्त-उपादान** का विवेचन कर सिद्ध कर दिया है कि दोनों कारणों की उपलब्धि होने पर ही कार्य की सिद्धि हो सकती है । समाज में चर्चित सभी शंकाओं का समाधान इस पुस्तक को पढ़ने से हो जायेगा । इसलिए सभी तत्व के स्वरूप को समझने के आकांक्षी इस पुस्तक को अवश्य पढ़ें तथा इस पुस्तक का प्रकाशन करने वाले विमला, नरेन्द्र, उर्मिला आदि दातारों को मेरा बहुत-बहुत आशीर्वाद है ।

धर्म दर्शन विज्ञान शोध प्रकाशन, बडौत (मेरठ) द्वारा पुस्तक का द्वितीय संस्करण प्रकाशित कराया गया है । इसी प्रकार जिनवाणी की सेवा में लगे रहे ऐसा मेरा सभी कार्यकत्ताओं को आशीर्वाद ।

—गणधराचार्य कुन्थुसागर

आमुख

सुर-असुरों से घिरे हुए भगवान महावीर अनेक देशों में विहार कर किसी दिन फिर उसी राजगृह नगर में आ पहुँचे। बारह सभाओं से पूज्य वे भगवान विपुलाचल पर्वत पर विराजमान हुये। राजा श्रेणिक उनकी स्तुति के लिये गया, जाते समय उसने एक वृक्ष के नीचे शिलातल पर विराजमान धर्मरुचि नाम के मुनिराज को देखा। वे मुनिराज निस्तरङ्ग समुद्र के समान निश्चल थे, दीपक के समान निष्कम्प थे और जल-सहित मेघ के समान उन्नत थे। उन्होंने इन्द्रियों के व्यापार को जीत लिया था, वे पर्यङ्कासन से विराजमान थे, श्वोच्छवास को उन्होने थोड़ा रोक रखा था और नेत्र कुछ बन्द कर लिये थे। इस प्रकार ध्यान करते हुये मुनिराज को देखकर श्रेणिक ने उनकी वन्दना की, परन्तु मुनिराज का मुख कुछ विकृत हो रहा था— इसीलिये उसे देखकर श्रेणिक को कुछ शंका उत्पन्न हो गई। वहाँ से चलकर वह भगवान् महावीर जिनेन्द्र के समीप पहुँचा। वहाँ उसने हाथ जोड़कर उनकी स्तुति की, फिर गौतम गणधर की स्तुति कर उसने पूछा कि हे प्रभो! मैंने मार्ग में एक तपस्वी मुनिराज को देखा है, वे ऐसा ध्यान कर रहे हैं मानो उनका रूप धारण कर साक्षात् ध्यान ही विराजमान हो। हे नाथ! वे कौन हैं? यह जानने का मुझे बड़ा कौतुक हो रहा है, सो कृपा कर कहिये। इस प्रकार राजा श्रेणिक के पूछे जाने पर वचनों के स्वामी श्री गणधर भगवान् इस प्रकार कहने लगे—

इसी भरत क्षेत्र के अङ्ग देश में सर्व-वस्तुओं से सहित एक चम्पा नाम की नगरी है। उसमें राजा श्वेतवाहन राज्य करता था। इन्हीं भगवान् महावीर स्वामी से धर्म का स्वरूप सुनकर उनका चित्त तीनों प्रकार के वैराग्य से भर गया, जिससे इनसे विमलवाहन नामक अपने पुत्र के लिये राज्य का भार सौंपकर बहुत लोगों के साथ संयम धारण कर लिया। बहुत दिन तक मुनियों के समूह के साथ विहार कर अखण्ड संयम को धारण करते हुए वे मुनिराज यहाँ आ विराजमान हुये हैं। ये दश धर्मों में सदा प्रेम रखते थे, इसीलिये लोगों के द्वारा धर्मरुचि के नाम से प्रसिद्ध हुये हैं। सो ठीक ही है, क्योंकि मित्रता वही है जो सर्व जीवों में होती है। आज ये मुनि एक महीने के उपवास के बाद नगर में भिक्षा के लिये गये थे, वहाँ तीन मनुष्य मिलकर इनके पास आये। उनमें एक मनुष्य, मनुष्यों के लक्षण शास्त्र का जानकर था, उसने इन मुनिराज को देखकर कहा कि इनके लक्षण तो साम्राज्य पदवी के कारण हैं। परन्तु ये भिक्षा के लिये भटकते फिरते हैं। इसीलिये शास्त्र में जो कहा है वह झूठ मालूम होता हैं। इसके उत्तर में दूसरे मनुष्य ने कहा कि शास्त्र में जो कहा गया है वह झूठ नहीं है। ये साम्राज्य तन्त्र का त्याग कर ऋषि हो गये हैं। किसी कारण से विरक्त होकर इन्होंने अपना राज्य का भार बालक—छोटे ही वय को धारण करने वाले अपने पुत्र के लिये दे दिया है और स्वयं विरक्त होकर इस प्रकार तपश्चरण कर रहे हैं।" इनके वचन सुनकर तीसरा मनुष्य बोला कि "इसका तप पाप का कारण है" अतः इससे क्या लाभ है? क्योंकि—

दुरात्मनः कृपा हित्वा बालं तपसमर्थकम्।
लोक संव्यवहारराज्ञ स्थापयित्वा धरातले ॥17॥
स्वयं स्वार्थं समुद्दिश्य तपः कर्तु मिहागतः।
मन्त्रिप्रभृतिभिः सर्वैः कृत्वा तं शृङ्खलावृतम् ॥18॥
राज्यं विभज्य तत्स्वैरं पापैस्तदनुमूयते।
इति तद्वचनं श्रुत्वा स्नेहमानप्रचोदितः ॥19॥
अभुञ्जानः पुरादाशु निवृत्यैत्य वनान्तरे।
वृक्षमूलं समाश्रित्य बाह्यकारण सन्निधौ ॥20॥

इसलिये दया को छोड़कर लोक व्यवहार से अनभिज्ञ असमर्थ बालक को राज्य भार सौंपकर केवल अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिये यहाँ तप करने के लिये आया है। मन्त्री आदि सब लोगों ने उस बालक को सांकल से बाँध रखा है—राज्य का विभाग कर पापी लोग इच्छानुसार स्वयं उसका उपयोग करने लगे हैं। तीसरे मनुष्य के उक्त वचन सुनकर इन मुनि का हृदय स्नेह और मान से प्रेरित हो गया, जिससे वे भोजन किये बिना ही नगर से लौटकर वन के मध्य में वृक्ष के नीचे आ बैठे हैं।

अन्तः क्रोधकषायानुभागोग्रस्पर्धकोदयात्।
संक्लेशाध्यवसायेन वर्धमानू त्रिलेश्यकः ॥21॥

मन्त्र्यादिप्रतिकूलेषु हिंसाद्याखिलनिग्रहान्।
ध्यायन् संरक्षणानन्दरौद्र ध्यानं प्रविष्टवान् ॥22॥
अतः पुर मुहूर्त्त चदेवमेव स्थित भजेत्।
आयुषो नारकस्यापि प्रायोग्योऽयं भविष्यति ॥23॥

उन्हीं के वचन रूप बाह्य कारणों के मिलने से उनके अन्तःकरण में तीव्र अनुभाग वाले क्रोध कषाय के स्पर्धकों का उदय हो रहा है। संक्लेश रूप परिणामों से उनके तीन अशुभ लेश्याओं की वृद्धि हो रही है। जो मन्त्री आदि प्रतिकूल हो गये हैं, उनमें हिंसा आदि सर्व प्रकार के निग्रहों का चिन्तवन करते हुए वे संरक्षणानंद नामक रौद्र ध्यान में प्रविष्ट हो रहे हैं। यदि अब आगे अन्तमुहूर्त्त तक उनकी ऐसी ही स्थिति रही तो वे नरक आयु का बन्ध करने के योग्य हो जावेंगे।

इसीलिये हे श्रेणिक! तुम शीघ्र ही जाकर उसे समझा दो और कह दो कि हे साधो! इस अशुभ ध्यान को छोड़ो, क्रोध रूपी अग्नि को शान्त करो, मोह के जाल को दूर करो, मोक्ष का कारणभूत जो संयम तुमने छोड़ रखा है, उसे फिर से ग्रहण करो, यह स्त्री-पुत्र तथा भाई आदि का सम्बन्ध अमनोज्ञ है तथा संसार का बढ़ाने वाला है, इत्यादि युक्ति-पूर्वक वचनों से उनका स्थितिकरण कर। तेरे उपदेश से वे पुनः स्वरूप में स्थित होकर शुक्ल ध्यान रूपी अग्नि के द्वारा घातिया कर्म रूपी सघन अटवी को भस्म कर देंगे और नव केवललब्धियों से दैदीप्यमान शुद्ध स्वभाव के धारक हो जायेंगे। गणधर महाराज के उक्त वचन सुनकर राजा श्रेणिक शीघ्र ही उन मुनिराज के पास गया और उनके बताये हुए मार्ग से उन मुनि को प्रसन्न कर आया। उक्त मुनिराज ने भी कषाय के क्षय से उत्पन्न होने वाली शान्ति से उत्पन्न होने वाली सामग्री प्राप्त कर द्वितीय शुक्लध्यान के द्वारा केवलज्ञान उत्पन्न कर लिया। उसी समय इन्द्र आदि देव उन धर्मरुचि केवली की पूजा करने के लिये आये। सो राजा श्रेणिक ने भी उन सबके साथ उनकी पूजा की और फिर वह भगवान वीरनाथ के पास आया। (उत्तरपुराण)

उपरोक्त आगम प्रणीत प्रसिद्ध उदाहरण से सिद्ध होता है कि महावीर भगवान की देशना रूपी निमित्त को प्राप्त करके श्वेतवाहन राजा के अन्तरङ्ग में स्थित वैराग्य रूपी उपादान जाग्रत हो गया, जिससे वे संसार रूपी भोग में विरक्त होकर पुत्र को राज्य देकर मोक्ष प्राप्ति के निमित्तभूत सकल संयम को धारण किये। उनकी धर्म में अत्यन्त रुचि होने के कारण वे 'धर्मरुचि' नाम से प्रख्यात हुए। जब वे एक महीने के उपवास अनन्तर शरीर रक्षार्थ भिक्षा के लिये नगर में गए थे तब तीन व्यक्तियों ने उनको देखकर परस्पर धर्मरुचि के बारे में चर्चा की। उनकी चर्चा से मुनि महाराज को ज्ञात हुआ कि मन्त्री आदि लोगों ने गृहस्थ सम्बन्धी उनके पुत्र को सांकल से बाँधकर राज्य का विभाग कर स्वयं उपभोग कर रहे हैं। उपरोक्त वचन रूपी निमित्त ने उनको झकझोर दिया। मुनि महाराज का हृदय स्नेह

व मान से प्रेरित हो गया। इतना ही नहीं वे भिक्षाचर्या को छोड़कर अर्थात् बिना भिक्षा लिये वन में जाकर एक वृक्ष के नीचे बैठ गए। वचन रूपी बाह्य निमित्त के जोर से अन्तःकरण में तीव्र अनुभाग वाले क्रोध कषाय वाले स्पर्धक का उदय होने लगा जिससे वे संक्लेश परिणाम से आर्त-ध्यान और रौद्र-ध्यान करने लगे। विचार करिये, भगवान के वचन रूपी बाह्य निमित्त से कर्मों की अनुभाग शक्ति उपशमादि कारण से क्षीण हो गई तथा उनके वैराग्य रूपी उपादान जाग्रत हो गया। मुनि अवस्था में उन व्यक्तियों के वचन रूपी बाह्य निमित्त से पुनः उनके अन्तरंग में स्थित उपादान रूपी कर्म जाग्रत हो गया, जिससे वे दुर्ध्यान करने लगे। यह है निमित्त व उपादान का परस्पर सम्बन्ध।

यदि वे आगे भी इस प्रकार दुर्ध्यान अन्तर्मुहूर्त तक करते रहते तो नरकायु का बन्ध करने के योग्य हो जाते। गौतम गणधर स्वामी, प्रबल निमित्त का प्रभाव परिणत-दशा में जीवों के ऊपर किस प्रकार पड़ता है, जानते थे। इसीलिये वे श्रेणिक को प्रेरणा दिये कि तुम शीघ्र जाकर मुनि महाराज को दुर्ध्यान छोड़कर आत्मध्यान करने के लिये सम्बोधन करो। श्रेणिक महाराज ने जाकर जब मुनि महाराज को सम्बोधित किया तो वचन रूपी बाह्य निमित्त को प्राप्त कर मुनि महाराज के उपादान रूपी ज्ञान वैराग्य जागृत हो गया और वे दुर्ध्यान को छोड़कर सुध्यान में लीन हो गये जिससे वे केवल बोधिलाभ प्रतिरोधक निमित्त को नष्ट करके केवल को प्राप्त कर लिये।

उपर्युक्त आगमोक्त उदाहरण से सिद्ध होता है कि योग्य निमित्त से सुयोग्य कार्य होता है एवं विपरीत निमित्त से विपरीत कार्य होता है।

वीरसेन स्वामी ने धवला में बताया है कि कर्म का उदय भी द्रव्य, क्षेत्र काल, भाव को निमित्त लिये बिना नहीं हो सकता है। परिणत दशा में सामान्य जीवों पर तो बाह्य निमित्त का विशेष प्रभाव पड़ता ही है, परन्तु कभी-कभी महा पुरुषों के ऊपर भी बाह्य निमित्तों का प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता है। तद्भव मोक्षगामी आदिनाथ तीर्थङ्कर आहार के लिये भ्रमण करते हुए भी उनको अनेक दिन तक आहार की प्राप्ति नहीं हुई क्योंकि उस समय उनको योग्य निमित्त उपादान का संयोग नहीं मिला। गुणभद्र स्वामी आत्मानुशासन में इसका चित्रण करते हुए निम्न प्रकार कहते हैं—

पुरागर्भादिन्द्रो मुकुलितकरः किंकर इव
स्वयं सृष्टासृष्टेः पतिरथ निधीनां निजसुतः।
क्षुधित्वा षण्मासान् स किल पुरुरप्याट जगती-
महो केनाप्यस्मिन् विलसितमलङ्घ्यं हतविधेः॥ 225॥

(आत्मा० शा०

Whom (for 6 months) before conception Indra (served) with folded hands, like a servant, who himself (was) the organiser of all organisations, whose son (Bharata was) the possesser of the (nine) treasures (Nidhis), even, he, the great (Rishabha Dava) wandered on earth for 6 months, without getting food, well, the frolics of Doomed Destiny (Karma) are insurmaintable by anyone.

जिस आदिनाथ जिनेन्द्र के गर्भ में आने के पूर्व छह महीने से ही इन्द्र दास के समान हाथ जोड़े हुए सेवा में तत्पर रहा, जो स्वयं ही सृष्टि की रचना करने वाला था, अर्थात् जिसने कर्मभूमि के प्रारम्भ में आजीविका के साधनों से अपरिचित प्रजा के लिये आजीविका विषयक शिक्षा दी थी तथा जिसका पुत्र भरत निधियों का स्वामी (चक्रवर्ती) था; वह इन्द्राद्रिकों से सेवित आदिनाथ तीर्थङ्कर जैसा महा-पुरुष भी बुभुक्षित होकर छह महीने तक पृथ्वी पर घूमा; यह आश्चर्य की बात है। ठीक है—इस संसार में कोई भी प्राणी दुष्ट दैव के विधान को लाँघने में समर्थ नहीं है।

उपरोक्त उदाहरण आगम प्रसिद्ध है परन्तु लौकिक व्यवहार, दैनिक कार्य-कलाप एवं अनुभव से भी निमित्त और उपादान का क्या सम्बन्ध है प्रायः सबको अनुभव से ज्ञात है। बाह्य योग्य निमित्तों के कारण योग्य परिणमन होता है, इसी-लिये सज्जन संगति, सत्साहित्य का अध्ययन, तीर्थयात्रा, मूर्तिपूजा आदि का विधान है। प्रशान्त भगवान की मूर्ति के दर्शन से प्रशान्त भाव होते है जिससे कर्म निर्जरा व पुण्य सम्पादन होता है, कहा भी है—

शान्तां स्थिरासनां वीक्ष्य प्रतिमां मोक्षदेशिनीन्।
जन्तोर्यः प्रशमोभावः स च पुण्याय जायते॥ 39॥

(धर्म संग्रह श्रावकाचार)

शान्त (वीतराग स्वरूप), निश्चल विराजमान तथा मोक्ष के स्वरूप को बताने वाली जिन प्रतिमा को देखकर जीवों को जो शान्त परिणाम होता है, वही परिणाम तो पुण्य सम्पादन का कारण है।

सत्संगति का भी प्रभाव जीवों के ऊपर क्या पड़ता है, नीतिकार वर्णन करते हुए कहते हैं—

यदि सत्संगति निरतो भविष्यति, भविष्यसि।
अथ सज्जान गोष्ठीषु पतिष्यसि-पतिष्यसि॥

यदि तुम सज्जन पुरुष के सहवास में रहोगे, उनकी संगति में लीन होवोगे तो

अवश्य ही ज्ञान की गोष्ठी में पड़ोगे अर्थात् उत्तन ज्ञान को प्राप्त करोगे। इससे विपरीत दुराचारी, जुआरी, धूर्त, भण्ड वचन बोलने वाले भाट आदि पुरुषों की संगति से सदाचार रूप श्रावक धर्म का नाश होता है। इसलिये आर्य संगति भी त्रिवर्ग साधन में एक कारण है।

संत्संसर्ग सुधास्यन्दैः पुंसां हृदा पवित्रिते।
ज्ञान लक्ष्मीः पदं धत्ते विवेकमुदिता सती ॥ 1 ॥
(सर्वोपयोगी श्लोक संग्रह पृ० 245)

सत्संगति रूपी अमृत के प्रवाह से पवित्रित मनुष्यों के हृदय में ज्ञान लक्ष्मी विवेक से प्रसन्न होती हुई पैर रखती है।

शीतांशु रश्मिसंपर्कादू विसर्पति यथाम्बुधिः।
तथा सद्वृत्तसंसर्गान्नृणा प्रज्ञां पयोनिधि :॥ 2 ॥

चन्द्रकिरणों के सम्पर्क से जिस प्रकार समुद्र बढ़ता है उसी प्रकार सदाचारी मनुष्यों की संगति से मनुष्यों का प्रज्ञा रूपी समुद्र बढ़ता है।

उत्तमजनसङ्गत्या पुमानिहाप्नोति गौरवं सततम्।
सुरभि प्रसूनमिलित्तम् तिलतैलं सुरभिता याति ॥ 9 ॥

यहाँ उत्तम जनों की संगति से मनुष्य निरन्तर गौरव को प्राप्त होता है जैसे सुगन्धित फूल से मिला हुआ तेल सुगन्ध को प्राप्त हो जाता है।

जाडयं धियो हरति सिञ्चति वाचि सत्यं।
मानोन्नतिं दिशति पापमपाकरोति ॥
चेतः प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्ति।
सत्सङ्गतिः कथय किं न करोति पुंसाम् ॥ 12 ॥

सत्संगति बुद्धि की जड़ता को हरती है, वचन में सत्य का सिञ्चन करती है, चित्त को प्रसन्न करती है और दिशाओं में कीर्ति विस्तृत करती है। कहो, सत्संगति पुरुषों का क्या नहीं करती ?

कुसंगतिरूप निमित्त का प्रभाव

पापं वर्धयते चिनोति कुमतिं कीर्त्यङ्गना नश्यति,
धर्मं ध्वंसयते तनोति विपदं सम्पत्तिमुन्मर्दति।
नीतिं हन्ति विनीतिमत्रकुरुते कोपं धुनीते शमं,
किं वा दुर्जन सङ्गतिर्न कुरुते लोकद्वय ध्वंसिनी ॥ 1 ॥
(सर्वोपयोगि श्लोक संग्रह पृ० 426)

कुसंगति पाप को बढ़ाती है, कुमति का संचय करती है, कीर्ति रूपी स्त्री नष्ट

होती है, धर्म का विध्वंस करती है, विपत्ति को विस्तृत करती है, सम्पत्ति को नष्ट करती है, नीति और विनय का घात करती है, क्रोध उत्पन्न करती है और शान्ति को दूर करती है। इस प्रकार दोनों लोकों को नष्ट करने वाली दुर्जन की संगति क्या-क्या नहीं करती है ?

दुर्जनजन संसर्गात् साधुजनश्चापि दोषमायाति।
दशमुखकृतापराधे जलनिधिरपि बन्धनं प्राप्तः ॥ 4 ॥

दुर्जन मनुष्य की संगति से सज्जन पुरुष भी दोष को प्राप्त होता है, जैसे रावण के द्वारा अपराध किये जाने पर समुद्र भी बंधन को प्राप्त हुआ।

अणुरप्यसतां सङ्गः सद्गुणं हन्ति विस्तृतम्।
गुण रूपान्तरं याति तक्रयोगाद् यथा पयः ॥ 6 ॥

दुर्जन का थोड़ा भी संसर्ग विस्तृत सद्गुण को नष्ट कर देता है, जैसे कि तक्र-छाछ के योग से दूध अन्य गुण और अन्य रूप को प्राप्त हो जाता है।

मलिनयति कोटिपात्रं दहति गुणं स्नेहमाशु नाशयति।
अमले मलं प्रयच्छति दीप ज्वालेव खलमैत्री ॥ 10 ॥

दुर्जन की मित्रता दीपक की ज्वाला के समान करोड़ों पात्रों को मलिन कर देती है, गुण (पक्ष में बत्ती) को जलाती है, स्नेह (पक्ष में तेल) को शीघ्र नष्ट करती है और निर्मल पुरुष में मल- दोष प्रदान करती है अर्थात् निर्दोष को सदोष बना देती है।

आध्यात्मिक संत कुन्दकुन्द देव (वट्टकेराचार्य) बाह्य सुसंगति तथा कुसंगति रूपी निमित्त का प्रभाव साधुओं को भी किस प्रकार प्रभावित करता है, उसका वर्णन करते हुए निम्न प्रकार वर्णन करते हैं—

वड्ढदि बोहि संसग्गेण तह पुणो विणस्सेदि।
संसग्गविसेसेण दु उप्पलगंधो जहा कुम्भो ॥ 956 ॥ मूलाचार

संसर्ग से बोधि बढ़ती है तथा पुनः नष्ट भी हो जाती है। जैसे संसर्ग विशेष से जल का घड़ा कमल की सुगन्धयुक्त हो जाता है ॥ 956 ॥

चंढोचलवो मंदो तह साहू पुट्ठिमंसपडिसेवी।
गारवकसाय-बहुलो दुरासओ होदि सो समणो ॥ 957 ॥
(मूलाचार)

जो साधु क्रोधी, चंचल, आलसी, चुगलखोर है एवं गौरव और कषाय की बहुलता वाला है वह भ्रमण आश्रय लेने योग्य नहीं है।

बेज्जावच्चविहूणं विणायविहूणं च दुस्सदि कुसीलं।
समणं विरागहीणं सुजमो साहू ण सेविज्ज ॥958॥

सुचारित्रवान् साधु वैयावृत्ति से हीन, विनय से हीन, खोटे शास्त्र से युक्त, कुशील और वैराग्य से हीन श्रमण का आश्रय न लेवें ॥958॥

दंभं परपरिवादं णिसुणत्तण पावसुत्तपडिसेवं ।
चिरपव्वइदं पि मुणि आरंभजुदं ण सेविज्ज ॥959॥

(मूलाचार)

माया युक्त, अन्य निन्दक, पैशून्य कारक, पात्र सूत्रों के अनुरूप प्रवृत्ति करने वाला और आरम्भ सहित श्रमण चिरकाल से दीक्षित क्यों न हो तो भी उसकी उपासना न करें ॥959॥

चिरपव्वइदं पि मुणी अपुट्ठधम्मं असंपुडं णीचं ।
लोइय लोगुत्तरियं क्षयाणमाणं विवज्जेज्ज ॥960॥

(मूलाचार)

जो मिथ्यात्वयुक्त, स्वेच्छाचारी, नीचकार्ययुक्त, लौकिक व्यापारयुक्त, लोकोत्तर व्यापार को नहीं जानते ऐसे चिरकाल से भी दीक्षित मुनि को छोड़ देवें ॥960॥

अंबो णिबत्तणं पत्तो दुरासएण जहा तहा ।
समणं मंदसंवेगं अपुट्ठधम्मं ण सेविज्ज ॥963॥

(मूलाचार)

जैसे आम खोटे संसर्ग से नीमपने को प्राप्त हो जाता है वैसे ही आचरण से हीन और धर्म में आलसी श्रमण का आश्रय न लें ॥963॥ (पृ० 144)

केवल सुसंगति-कुसंगति का प्रभाव जीवों पर नहीं पड़ता है वरन् क्षेत्रादि बाह्य निमित्त का प्रभाव जीवों पर पड़ता है । कुन्दकुन्द आचार्य मूलाचार में आत्मोन्नति के लिये व आत्मपतन के लिये कारणभूत क्षेत्रादि का वर्णन करते हुए कहते हैं—

जत्थकसायुप्पत्तिरभत्तिदियदारइत्थिजणबहुलं ।
दुक्खमुवसग्गबहुलं भिक्खू खेत्तं विवज्जेज ॥951॥

(मूलाधार पृ० 138)

जहाँ पर कषायों की उत्पत्ति हो, भक्ति न हो, इन्द्रियों के द्वार और स्त्री जन की बहुलता हो, दुःख हो, उपसर्ग की बहुलता हो उस क्षेत्र को मुनि छोड़ दें । ॥951॥

गिरिकंदरं मसाणं सुण्णागरं च रूक्खमूलं वा ।
ठाणं विरागबहुलं धीरो भिक्खू णिसेवेऊ ॥952॥

धीर मुनि पर्वत की कन्दरा, श्मशान, शून्य मकान और वृक्ष के मूल ऐसे वैराग्य की अधिकता युक्त स्थान का सेवन करें ॥952॥

णिवदिविहूणं खेत्तं णिवदी वा जत्थ दुट्ठओ होज्ज ।
पव्वज्जा च ण लब्भइ संजमघादो य तं वज्जे ॥953॥

राज से हीन क्षेत्र अथवा जहाँ पर राजा दुष्ट हो, जहाँ पर दीक्षा न मिलती हो और जहाँ पर संयम का घात हो वह क्षेत्र छोड़ दें ॥953॥

जो कप्पदि विरदाणं विरदीणमुवासयह्मि चेट्ठेदुं ।
तत्थ णिसेज्जउवट्ठणसज्झायाहारवोसरणे ॥954॥

आर्यिकाओं के उपाश्रय में मुनियों का रहना उचित नहीं है । वहाँ पर बैठना, उद्वर्तन करना, स्वाध्याय, आहार और व्युत्सर्ग भी करना उचित नहीं है ।

होदि दुगंछा दुविहा ववहारादो तधा य परमट्ठे ।
पयदेण य परमट्ठे ववहारेण य तहा पच्छा ॥955॥

आर्यिकाओं के संगति रूपी निमित्त से, व्यवहार से तथा परमार्थ से दो प्रकार से निन्दा होती है । पहले व्यवहार से पश्चात् परमार्थ से निन्दा निश्चित ही होती है । (मूलाचार)

ब्रह्मचर्य व्रत के दूषण एवं भूषण रूपी निमित्तों का वर्णन आचार्य श्री निम्न प्रकार करते हैं—

बीहेदव्यं विच्चं कट्ठत्थस्स वि तिहित्थरुवस्स ।
हवदि य चित्तक्खोभो पच्चयभावेण जीवस्स ॥992॥

काठ में बने हुए भी स्त्री रूप से हमेशा डरना चाहिये क्योंकि कारण के सद्-भाव से मन में क्षोभ हो जाता है ।

मायाए विहिणीए धुआए गुइ वुड्ढ इत्थीए ।
बीहेदव्वं णिच्चं इत्थीरूणं णिरावेक्खं ॥993॥

माता, बहिन, पुत्री अथवा गूँगी या वृद्धा, इन सभी स्त्रियों से डरना चाहिये । स्त्री रूप की कभी भी अपेक्षा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि स्त्रियाँ अग्नि समान सर्वत्र जलाती हैं ॥994॥

पढमं विउलाहारं विदियं कायसोहणं ।
तदियं गंधमल्लाइं चउत्थं गीयवाइयं ॥998॥
तहसयण सोधणं पिय इत्थिसंसग्गं पि अत्थलंगाहणं ।
पुव्वरदिसरणंमदियविसयरदी पणिदरससेवा ॥999॥

पहले विपुल आहार करना, दूसरे काय का शोधन करना, तीसरे गंध-माला आदि धारण करना, चौथे गीत और बाजे सुनना तथा शयन स्नान का शोधन, स्त्री संसर्ग, धन संग्रह, पूर्व रति स्मरण, इन्द्रिय जन्य विषयों में अनुराग और पौष्टिक रसों का सेवन—ये दस अब्रह्म के कारण हैं । ॥998–999॥ (मूलाचार)

महानीतिकार चाणक्य ने निमित्तों का प्रभाव जीवों के ऊपर कैसे पड़ता है इसका चित्रण करते हुए चाणक्य नीति दर्पण में कहते हैं—

कुग्रामवासः कुलहीन सेवा ।
कुभोजनं क्रोधमुखी च भार्या
पुत्रश्च मूर्खो विधवा च कन्या ।
विनाग्निमेते प्रदहन्ति कायम् ॥8॥

(1) खराब ग्राम में निवास (2) नीच कुल वाले प्रभु की सेवा (3) खराब भोजन, (4) कर्कशा स्त्री, (5) मूर्ख पुत्र (6) विधवा पुत्री—ये छः बिना अग्नि के ही प्राणी के शरीर को भून डालते हैं ।

घिद्भरिद घड सरित्थो पुरिसो इत्थी बलंत अग्गिसमा ।
तो महिलेयं ढुक्का णट्ठा पुरिसा सिवं गया इयरे ॥993॥

(मूलाचार)

पुरुष घी से बने हुए घट के सदृश है और स्त्री जलती हुई अग्नि के सदृश है । इन स्त्रियों के समीप हुए पुरुष नष्ट हो गये हैं तथा इनसे विरक्त पुरुष मोक्ष को प्राप्त हुए हैं ।

जीवो के ऊपर आहार रूपी निमित्त का प्रभाव

चिन्मय रूपी निश्चय प्राण सहित भगवान आत्मा भी संसार अवस्था में जीवित रहने के लिये यथायोग्य आहार को ग्रहण करती है । आहार का प्रभाव उसके ऊपर बिना पड़े नहीं रहता है । नीतिकारों ने कहा है—

जैसा खावे अन्न वैसा होवे मन ।
जैसा पीवे पानी वैसी होवे वाणी ॥

आचार्यों ने भी कहा है—

यादृशं भक्ष्यते अन्नं तादृशी जयते मति :
दीपोति भक्ष्यते ध्वान्तं कज्जलं च प्रसूयते ।

प्राणी जैसा अन्न खाता है, वैसा मन होता है जैसे दीपक अंधकार दूर करता है (खाता है) तो उससे कज्जल उत्पन्न होता है ।

इंग्लिश में भी एक मनोवैज्ञानिक लोकोक्ति है—

As you eat so think, and as you thing, so you become.

अर्थात् जैसा भक्षण करोगे वैसा विचार होगा एवं जैसा विचार होगा उसी प्रकार तुम बनोगे ।

आध्यात्मिक संत आचार्य अमृतचन्द्र पुरुषार्थसिद्धयुपाय में अहिंसा पालन के लिए, भाव विशुद्धि के लिए तथा जैन धर्म को सुनने के लिस सर्वप्रथम योग्य आहार रूपी निमित्त को स्वीकार किये हैं । उन्हीं के शब्दों में—

मद्यं मासं क्षौद्रं पञ्चोदुम्बर फलानि यत्नेन ।
हिंसा व्युपरति कामै र्मक्तिव्यानि प्रथममेव ॥61॥

Those who desire avoiding Himsa, should, first take care to renounce wine, flesh, honey, and the Audmbar fruits.

हिंसा के त्याग के इच्छुक पुरुषों को प्रथम ही यत्नपूर्वक शराब, माँस, मधु शहद और पाँच अदुम्बर फल छोड़ देना चाहिये ।

मद्यं मोहयति मनो मोहित चित्तस्तु विस्मरति धर्मम् ।
विस्मृत धर्मा जीवो हिंसामविशङ्कमाचरति ॥62॥

Wine stupifies the mind, one whose mind is stupified forgets piety; and the person who forgests piety commits Himsa without hesitation.

मद्य मन को मोहित करती है और मोहित चित्त पुरुष तो धर्म को भूल जाता है तथा धर्म को भूला हुआ जीव निःशंक होकर हिंसा का आचरण करता है ।

अभिमान भय जुगुप्सा ह्यस्यारति शोक काम कीपाद्याः ।
हिंसायाः पर्यायाः सर्वेऽपि च सरक सन्निहिताः ॥64॥

Pride, fear, disgust, ridicule, ennui, grief, sex passion, anger, etc., are forms of Himsa; and all these are concommitants of wine.

अभिमान, भय, ग्लानि, हास्य, अरति, शोक, काम, क्रोधादि हिंसा के भेद हैं और यह सभी मदिरा के निकटवर्ती हैं ।

अष्टा वनिष्ट दुस्तर दुरितायतनान्यमूनि परिवर्ज्य ।
जिन धर्म देशनाया भवन्ति पात्राणि शुद्धधियः ॥74॥

Those pure intellects, who renounce the above eight things, which cause painful and insufferable calamity, render themselves worthy of Jain discipline.

दुःखदायक दुस्तर और पाप के स्थान ऐसे आठ पदार्थों का परित्याग करके (5 उदुम्बर+3 मकार) निर्मल बुद्धि वाले पुरुष जैन धर्म के उपदेश के पात्र होते हैं ।

पानी की अवस्था विभिन्न निमित्तों से विभिन्न प्रकार परिणमन करती है—

संपप्तायसि संस्थितस्य पयसोनामापि न श्रूयते ।
मुक्ताकार तया तदेव नलिनीपत्र स्थितं दृश्यते ॥
अतः सागर शुक्ति संपुट गतं तन्मौक्तिकं जायते ।
प्रायेणाधममध्यमोत्तम गुणाः संवासतो देहिनाम् ॥207॥

(सम्यक्त्व कौमुदी)

संतप्त लोहे पर पड़े हुए पानी का नाम भी सुनाई नहीं पड़ता, वही पानी कमलिनी के पत्ते पर स्थित होकर मोती के समान दिखाई देता है और समुद्र के भीतर सीप के पुट में जाकर मोती बन जाता है। ठीक ही है, संगति निमित्त से ही मनुष्यों के गुण प्रायः अधम-मध्यम और उत्तम हों।

उपरोक्त सम्पूर्ण उदाहरणों से यह सिद्ध होता है कि उद दान का परिणमन विभिन्न निमित्तों के कारण विभिन्न रूप होता है। जैसे मूँग (बीज) उपयुक्त जलवायु के उपलब्ध होने पर अंकुरित होकर पेड़ बन आता है। उपयुक्त जलवायु के न मिलने पर अनेक काल तक भी अंकुरित होकर पेड़ नहीं हो सकता है। उस मूँग को यदि दलन करके दाल बनाकर पकाते हैं तब पक्व होकर दाल बन जाती है। यदि उसको अनेक समय तक बिना सजाये रखेंगे तो वह कभी भी दाल नहीं बन सकती है। उस दाल को ही आटा बनाकर विभिन्न बाह्य-योग्य-निमित्त के संयोगों से रोटी, पापड़, मिष्ठान्न, हलुआ, लड्डू बना सकते हैं। परन्तु उस मूँग में अंकुरित होने की उपादान शक्ति न होने पर बाह्य-योग्य-निमित्त मिलने पर भी अंकुर नहीं होगा। यदि मूँग में सीजने रूप उपादन शक्ति नहीं है तो उसे कितना भी उबाला जाये तो भी वह सीजता नहीं है जैसे—भटरा (ठर्रा) मूँग।

यदि बाह्य निमित्तों का परिणाम नहीं होता तो शुद्ध भोजन, मन्दिर, मूर्ति शास्त्र, गुरु, प्रकाश, चश्मा, गाड़ी (वाहन), कपड़ा, पानी, हवा, औषधि आदि निष्प्रयोजनभूत हो जायेंगे। इसलिये सिद्ध होता है कि उपादान शक्ति को जाग्रत करने के लिये, कार्यान्वित करने के लिये, जिन कारणों की आवश्यकता होती है उन्हें बाह्य निमित्त कहते हैं।

जिस प्रकार अशुद्ध द्रव्यों के परिणमन के लिये बाह्य निमित्तों की आवश्यकता होती है उसी प्रकार शुद्ध द्रव्यों के परिणमन में भी बाह्य निमित्तों की आवश्यकता होती है। अशुद्ध द्रव्य में विभिन्न बाह्य निमित्त से अशुद्ध परिणमन होता है तथा शुद्ध द्रव्य में विभिन्न बाह्य निमित्त से शुद्ध परिणमन होता है। मिथ्यादृष्टि अज्ञानी बाह्य निमित्त को ही सर्वेसर्वा मान लेता है तथा उसमें ही सम्पूर्ण सुख-दुःख का आरोपण करता है, परन्तु ज्ञानी बाह्य निमित्त को स्वीकार करते हुए भी उसके यथायोग्य योगदान को मानता हुआ भी उसको सर्वेसर्वा नहीं मानता है एवं सुख-दु.ख का सम्पूर्ण कारण निमित्त पर आरोपण नहीं करता है। वे आत्मा में स्थिर होने के लिये, कर्म निर्जरा के लिये, मोक्ष-प्राप्ति के लिये निमित्त को प्रधानता नहीं देने पर भी निमित्तों का अभाव नहीं हो जाता है। निर्विकल्प अवस्था में सम्पूर्ण संकल्प-विकल्पों के साथ-साथ निमित्तों का भी विकल्प नहीं रहता है परन्तु एकान्ततः (निमित्तों) को कार्य सम्पादन में स्वीकार नहीं करना, अकिञ्चितकर कहना वस्तु-स्वरूप से बाह्य होने के कारण असम्यक्-मिथ्या है।

वर्तमान में सम्पूर्ण वाद-विवादों को समाप्त करने वाला साम्यवाद, अनेकान्त-वाद है प्राण जिसका ऐसे जैन धर्म में आज कोई एकान्ततः निमित्त को सर्वेसर्वा मान-कर या उपादान को सर्वेसर्वा मानकर वाद-विवाद कर रहे हैं। वे अनेकान्तपथ से च्युत हो रहे हैं। उनको मार्ग प्रदर्शन के लिए पूर्वाचार्यों कृत विभिन्न ग्रन्थों के आव-लम्बन से हमने "निमित्त-उपादान मीमांसा" कृति की रचना की है। यह कृति वस्तुतः पूर्वाचार्यों की ही है, मैंने तो केवल उनके ज्ञानरूपी फुलवारी से एक-एक फूल लेकर माला रूप से ग्रन्थित कर दिया है। इसमें जो कुछ सुन्दरता, सुगन्धितपना दृष्टिगोचर हो रहा है वह तो केवल पूर्वाचार्यों का ही है। इसको ग्रन्थित करने में जो कुछ त्रुटियाँ हैं वे मेरी ही हैं। विज्ञ पाठक इसमें जो सत्य रूपी सुगन्धी एवं सुन्दरता है उसको स्वीकार करके काँटा रूपी त्रुटियों को दूर से ही त्याग करें। त्रुटियों को मुझे कृपा-कर अवगत करायें, जिससे मैं उन त्रुटियों का आगे सुधार करने का मार्गदर्शन प्राप्त कर सकूँ।

स्व० लाला कामता प्रसाद जैन की धर्मपत्नी विमला जैन एक दिन आर्यिका राजश्री माताजी को स्वमेव बोली कि—"मैं एक पुस्तक छपाने का इच्छुक हूँ। आप उपाध्यायाश्री से विचार-विमर्श कीजिये।" राजश्री माताजी ने मुझसे उपरोक्त बात कहने पर मैंने किताबों की लिस्ट दिखाई। विमला जैन ने "निमित्त-उपादान मीमांसा" पुस्तक प्रकाशन करने के लिये मेरे से पाण्डुलिपि ली। यह पुस्तक स्व० लाला कामता प्रसाद जैन की पुण्य स्मृति में उनकी धर्मपत्नी विमला जैन, सुपुत्र नरेन्द्रकुमार जैन, पुत्रवधू उर्मिला जैन प्रकाशित कर रहे हैं। वे इस प्रकार धार्मिक पुस्तक प्रकाशित करके ज्ञान-दान के साथ-साथ ज्ञान प्रचार में लिए जो कार्य कर रहे हैं वह बहुत ही अनुकरणीय है। ज्ञान दान से जीव सातिशय पुण्य संचय करता है और परम्परा से गणधर, केवली होकर मोक्ष की प्राप्ति करता है।

इस पुस्तक की प्रतिलिपि करने में हमारे संघस्थ सहधर्मी पद्मनन्दी मुनि, कुमार विद्यानन्दी मुनि, आर्यिका राजश्री माताजी, आर्यिका क्षमाश्री माताजी तथा कुमारी संगीता जैन M. Com., कुमारी संगीता जैन (मीनू) I. A., श्रीमती मीनू जैन B. A. आदि ने सहायता की। इन लोगों की सहायता से मेरी जिनवाणी की शुद्ध सेवा में तीव्रता आई है इसलिये मैं सहृदय से उनकी शुभ भावना करता हूँ।

इस प्रेस कापी संशोधन में प्रेमचन्द जी मित्तल M. A. तथा सुशीलचन्द्र जी जैन M. Sc. ने सहायता की तथा सम्पादन में प्रेमचन्द मित्तल और सुदेश जैन। राजीव जैन, सुरेन्द्र प्रसाद जैन (रतन प्रिंटिंग प्रैस) ने शास्त्र प्रकाशन का उत्तर-दायित्व स्वयं स्वेच्छापूर्वक अपने बलिष्ठ कंधों पर लिये हैं। उनके बिना सहकार से यह कार्य होना अत्यन्त दुरूह था, इनका योगदान सराहनीय है। सुदेश जैन का भी योगदान रहा। उपरोक्त सहकारी साधु-साध्वियों को मैं आभार प्रकट करता हूँ एवं

अन्य व्यक्तियों को मेरा धर्मवृद्धि आशीर्वाद इसलिये है कि उनकी मति धर्म में गतिशील रहे। मेरा परिश्रम तब सार्थक होगा जब इस पुस्तक को पढ़कर कोई एक भी भव्य प्राणी वस्तु स्वरूप को समझकर श्रेय मार्ग में अग्रसर होगा। इस उदात्त पवित्र भावना के साथ—

सत्य समर्पक—**कनकनन्दी मुनि**

द्वितीय संस्करण

लोकप्रियता से ही किसी वस्तु का मूल्यांकन होता है। इस कृति का मूल्य इसके द्वितीय संस्करण से विदित है। इस कृति का द्वितीय संस्करण "धर्म दर्शन विज्ञान शोध प्रकाशन", बड़ौत (मेरठ) ने प्रकाशित कराकर जनमानस तक पहुँचाने का प्रयास किया है। प्रेमचन्द मित्तल, सुदेश कुमार जैन व योगेश चन्द्र जैन के प्रयास प्रकाशन में सराहनीय है। उन्हें मेरा शुभाशीर्वाद।

उपाध्याय कनकनन्दी

विषय-सूची

क्रम सं०	विवरण	पृष्ठ सं०
1.	**निमित्त उपादान मीमांसा**	1
	(अ) कार्य सम्पादन में निमित्त उपादान की भूमिका	1
	(ब) कार्य सम्पादन के 5 कारण	2
	(स) कार्य कारण सिद्धान्त	3
	(द) निमित्त के बिना कार्य की अनुत्पत्ति	3
	(य) उपादान कारण	4
	(र) निमित्त कारण	4
	(ल) विरोधी कारण	4
	(व) विश्व संरचना के लिए निमित्त	9
	(श) आकाश द्रव्य का उपकार	12
	(ष) द्रव्य परिणमन के निमित्तक हेतु काल द्रव्य	12
	(स) जीव द्रव्य का परस्पर में उपकार	14
	(ह) पुद्गल का उपकार	15
2.	**संसारावस्था के लिए निमित्त**	19
3.	**आस्रव बन्ध के निमित्त**	26
4.	**सम्यक्त्व उत्पत्ति के लिए निमित्त**	32
	(अ) द्रव्य क्षेत्र काल भाव रूप निमित्त	33
	(ब) कारणों की कथंचित् मुख्यता	33
	(स) जिन बिम्ब दर्शन सम्यक्त्व का कारण कैसे ?	34
	(द) क्षायिक सम्यग्दर्शन उत्पत्ति के कारण	36
	(य) संवर निर्जरा के निमित्त	37
5.	**मोक्ष प्राप्ति के लिए निमित्त**	42
	(अ) तीर्थंकर रूप निमित्त का प्रबल प्रभाव	44
	(ब) तीर्थंकर प्रकृति के बंध के निमित्त	44
	(स) भव्यत्व की अभिव्यक्ति के लिए निमित्त	45
	उपाध्याय कनक नन्दी द्वारा रचित ग्रन्थ	56

निमित्त-उपादान मीमांसा

(कार्य कारण व्यवस्था में निमित्त उपादान का योगदान)

ले० — उपाध्याय कनक नन्दी

अखिल चेतन-अचेतन, मूर्त्तिक-अमूर्त्तिक, शुद्ध-अशुद्ध द्रव्य में जो तीन लोक में व तीन काल में क्षुद्र महत् अथवा शुद्धाशुद्ध कार्य सम्पादन होता है, उस कार्य को सम्पादन करने के लिये अनेक कारणों का योगदान रहता है। भले कथञ्चित् एक कारण प्रधान हो जाता है तथा अन्य कारण गौण हो जाता है, तो भी गौण कारण का सर्वदा सर्वथा अभाव अथवा योगदान नहीं है ऐसा कहना अयुक्तियुक्त है। सम्पूर्ण विश्व के क्षुद्र महत् कार्य, कार्य-कारण सिद्धान्त से अनुप्रेरित अनुश्रुत एवं अभिव्यक्त होने के कारण निमित्त-उपादान की मीमांसा विश्व की मीमांसा होने के कारण यह विषय अत्यन्त गूढ़, दुरुह, महत्वपूर्ण एवं प्रमेय बहुल है। तो भी यत्किञ्चित् आगम-अनुभव-युक्ति, तर्क एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण को लेकर यहाँ वर्णन करने का प्रयास कर रहे हैं। विषय अत्यन्त सूक्ष्म एवं गहन होने के कारण मेरे जैसे अल्पबुद्धि वाले से त्रुटि होना स्वाभाविक है। अतः आगमविज्ञ महानुभाव मेरी त्रुटि को अवगत कराने का सहृदय कष्ट करें।

निमित्त उपादान की भूमिका

महान् तार्किक, वादीराज केशरी, महामेधावी, जिनशासन प्रभावक, स्वामी समन्तभद्र आचार्य निमित्त-उपादान एवं कार्य-कारण की व्यवस्था का प्रतिपादन करते हुये स्वयंभू स्तोत्र में भगवान वासुपूज्य की स्तुति करते हुये बताते हैं—

बाह्येतरोपाधि समग्रतेयं कार्येषु ते द्रव्यगतः स्वभावः।
नैवान्यथा मोक्षविधिश्च पुंसां तेनाभिवन्द्यस्त्वमृषिर्बुधानाम् ॥६०॥

आपके मत में यह बाहरी और अन्तरंग कारण की पूर्णता कार्यों के संपादन करने में द्रव्य में प्राप्त हुआ स्वभाव है। संसारी जीवों के लिये मोक्ष का उपाय

भी बाहरी और अन्तरंग दोनों साधनों के सिवाय अन्य रूप से नहीं हो सकता। इसलिये आप परमऋद्धि से सम्पन्न परम प्रभु गणधर देव आदि बुद्धिमानों के लिये नमस्कार करने योग्य हैं।

कार्य सम्पादन के ५ कारण

सूक्ष्म, अखंडित, अबाधित वैज्ञानिक कार्य-कारण सिद्धान्त का वर्णन आचार्य-प्रवर सिद्धसेन दिवाकर दार्शनिक एवं तार्किक वाङ्मय की अनुपम कृति "सम्मति सूत्र" में निम्न प्रकार वर्णन करते हैं—

कालो सहाव णियई, पुव्वकयं पुरिस करणेगंता।
मिच्छत्तं ते चेव उ समासओ होंति सम्मत्तं ॥५३॥

(१) काल, (२) स्वभाव, (३) नियति, (४) पूर्वकृत, (५) पुरुषार्थ रूप कारण विषयक एकान्त मिथ्यात्व हैं किन्तु वे ही समस्त रूप में सापेक्ष रूप से मिलने पर यथार्थ (सम्यक्) होते हैं।

इसी सिद्धान्त को आचार्य स्वामीकार्तिकेय महाराज अपनी अलौकिक कृति "स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा" में निम्न प्रकार प्रतिपादन करते हैं—

सव्वाण पज्जयाणं अविज्जमाणाण होदि उत्पत्ती।
कालाई-लद्धीए अणाई-णिहणम्मि दव्वम्मि ॥२४४॥

सर्वेषां पर्यायाणां नरनरकादि पुद्गलादीनां द्रव्ये जीवादि वस्तुनि। किं भूते अनादि निधने अविनश्वर पदार्थे कालादिलब्ध्या द्रव्यक्षेत्र काल भवभाव लाभे उत्पत्तिर्भवति उत्पादः स्यात्। किं भूतानाम्। अविद्यमानानाम् असतां द्रव्य पर्यायाणामुत्पत्तिः स्यात्। यथा विद्यमाने मृद्द्रव्ये घटोत्पत्युचितकाले कुम्भकारादि सत्येव घटादयः पर्याया जायन्ते तथा॥

अनादि निधन द्रव्य में काललब्धि आदि के मिलने पर अविद्यमान पर्यायों की ही उत्पत्ति होती है।

द्रव्य अविनश्वर शाश्वतिक होने के कारण अनादि निधन है। उस अनादिनिधन द्रव्य में अपने योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के मिलने (संयोग) पर जो पर्याय विद्यमान नहीं होती उसकी उत्पत्ति हो जाती है। सम्पूर्ण शुद्धाशुद्ध रूपी अरूपी द्रव्य में जो परिणमन होता है या नूतन पर्याय की उत्पत्ति होती है वे भी कालादि कारण को प्राप्त करके ही होती है। जीव द्रव्य में नरनारकादि अशुद्ध पर्यायें अथवा शुद्ध अवस्था रूप शुद्ध पर्यायों की उत्पत्ति होती हैं वह भी कालादि निमित्त को पाकर होती है। इसी प्रकार पुद्गल में स्कन्धरूप

अशुद्ध परिणमन एवं अणुरूप शुद्ध परिणमन भी कालादि को प्राप्त होने पर होता है। जैसे विद्यमान मिट्टी में घट रूप उत्पन्न होने का उचित काल प्राप्त होने पर तथा कुम्भकारादि के सद्भाव में घटादि पर्याय उत्पन्न होती है।

कार्य-कारण सिद्धान्त
(Law of Cause and Effect)

प्रत्येक कार्य स्वस्व योग्य उपादान कारण तथा योग्य बहिरंग कारणों के सद्भाव होने पर एवं विरोधी कारणों का अभाव होने पर कार्य सम्पादन होता है।

दीप प्रज्वलन रूप कार्य के लिये तेल, बत्ती, दिया, अग्नि, प्राणवायु (ऑक्सीजन) आदि का योग्य संयोग होना चाहिये तथा तीव्र वायु संचालन, अग्नि स्तम्भन रूप मणि, मंत्र-तंत्र, लेप, औषधादि का अभाव होना चाहिये। एक कार्य पूर्ण करने के लिये जितने यथा-योग्य कारणों की आवश्यकता है उनमें से एक भी कारण का अभाव होने पर कार्य नहीं हो सकता है। जिस प्रकार दीप प्रज्वलन रूप कार्य के लिये अन्य अन्य कारणों के सद्भाव होने पर भी, अग्नि रूप एक कारण के अभाव से दीपक प्रज्वलित नहीं हो सकता है, उसी प्रकार तेल, बत्ती, ऑक्सीजन आदि एक-एक कारण के अभाव होने पर भी दीप प्रज्वलन रूप कार्य नहीं हो सकता है। तैल आदि के सद्भाव से भी यदि तीव्र वायु संचालन आदि रूप विरोधी कारणों के सद्भाव होने पर दीप प्रज्वलन रूप कार्य नहीं हो सकता है। इस कार्य-कारण की व्यवस्था को स्पष्ट करते हुये आचार्य समन्तभद्र स्वामी स्वयंभूस्तोत्र में वासुपूज्य भगवान की स्तुति करते हुये कहते हैं—

निमित्त के बिना कार्य की अनुत्पत्ति

यद्वस्तु बाह्यं गुणदोष भूतेर्निमित्तमभ्यन्तर मूल हेतोः।
अध्यात्मवृत्तस्य तदङ्गभूतमभ्यन्तरं केवलमप्यलं न ॥५१॥

जो बाह्य वस्तु गुणदोष या पुण्यपाप की उत्पत्ति का निमित्त होती है वह अन्तरंग में वर्त्तने वाले गुणदोषों की उत्पत्ति के अभ्यन्तर मूलहेतु की अंगभूत होती है

(अर्थात् उपादान की सहकारी कारणभूत होती है) उसकी अपेक्षा न करके केवल अभ्यन्तर कारण उस गुणदोष की उत्पत्ति में समर्थ नहीं है।

उपादान कारण

जो कारण बाह्य निमित्त की सहायता लेकर स्वयं कार्यरूप में परिणमन करता है उसको उपादान कारण कहते हैं। जैसे—योग्य मिट्टी, योग्य कुम्भकार आदि बाह्य निमित्त की सहायता से स्वयं परिणमन करती हुई कुम्भादि रूप में परिणमन कर लेती है। इसको ही मुख्य कारण, अन्तरंग कारण, आत्मभूत आदि से अभिहित करते हैं।

निमित्त कारण

उपादान कारण के सिवाय और जो दूसरे कारण जो कार्य बनने में सहायता करते हैं वे निमित्त कारण कहलाते हैं। इसको ही गौण कारण, अनात्मभूत कारण सहकारी कारण कहते हैं।

विरोधी कारण

जो कारण कार्य सम्पादन में बाधा डालता है उसे विरोधी कारण कहते हैं।

आचार्यप्रवर उमास्वामी कृत तत्त्वार्थ सूत्र के द्वितीय अध्याय के आठवें सू का व्याख्यान करते हुए तार्किक चूड़ामणि भट्टारक अकलंकदेव स्वामी विभि निमित्तों का वर्णन निम्न प्रकार करते हैं :—

द्विविधो हेतुर्बाह्य आभ्यन्तरश्च। द्वाववयवौ यस्य स द्वयः। ननु च स्व निर्देशादेव द्वित्व प्रतीतेर्द्वय वचनमनर्थकम्; नानर्थकम्। प्रत्येकं द्वैविध्य संप्रत्ययार्थ —बाह्यो हेतुर्द्वय आभ्यन्तरश्चेति। तत्र बाह्यो हेतुर्द्विविधः—आत्मभूतोऽना भूतश्चेति। तत्रात्मना संबंधमापन्नविशिष्ट नाम कर्मोपात्तपरिच्छिन्न स्थान परिम निर्माणश्चक्षुरादि करण ग्राम आत्मभूतः। प्रदीपादिरनात्मभूतः। आभ्यन्तरश्च द्विवि

अनात्मभूत आत्मभूतश्चेति। तत्र मनोवाक्काय वर्गणा लक्षणो द्रव्ययोगः चिन्ताद्या-लम्बनभूतः अन्तरभिनिविष्टत्वादाभ्यन्तर इति व्यपदिश्यमान आत्मनोऽन्यत्वाद नात्मभूत इत्यभिधीयते। तन्निमित्तो भावयोगो वीर्यान्तराय ज्ञानदर्शनावरण क्षय-क्षयोपशम निमित्त आत्मनः प्रसादश्चात्मभूत इत्याख्यामर्हति। तस्यैतस्य हेतु विकल्प-स्य यथा संभवमुपलब्धुः सन्निधानं भवति। तद्यथा—प्रदीपादेस्तावत् केषाञ्चित् सन्निधानं तेन बिना चक्षुरादि विज्ञानाप्रवृत्तेः, केषाञ्चित्तुद्वीपिमार्जारादीनां तमन्तरेणा-प्युपलब्धेरनियमः। चक्षुरादीनामपि पंचेन्द्रिय विकलेंद्रियैकेन्द्रिय विषयत्वेन "सन्नि-धानाऽसन्निधानं प्रत्यनियमः।" अन्तःकरणमपि असंज्ञिनां मनोवर्जितम्, संज्ञिनां त्रितयम्, एकेन्द्रियाणां विग्रहगतिमुपगतानां समुद्घातगतानां च सयोग केवलिनामेक एव काययोगः, भावयोगश्च तत्कृतः, तत्र तत्र नियतः क्षयोपशमश्च आक्षीण कषायात्। अत ऊर्ध्वं क्षय इति। एवं यथासंभवं सन्निधाने सति। चैतन्यमात्मनः स्वभावोऽनादिः तमनुविदधातीत्येवंशीलश्चैतन्यानुविधायी सुवर्ण स्वभावानुविधायि कटकाङ्गद कुंडलादि-विकारवत्।

बाह्य एवं अभ्यन्तर के भेद से हेतु दो प्रकार का है। दो अवयव जिसके होते हैं वह "द्वय" कहलाता है।

शंका—स्वरूप निर्देश से ही द्वित्व की प्रतीति होती है। पुनः "द्वय" शब्द का प्रयोग व्यर्थ है?

समाधान—"द्वय" शब्द का प्रयोग निष्प्रयोजन नहीं है, क्योंकि बाह्य हेतु भी दो प्रकार का है और अन्तरंग हेतु भी दो प्रकार का है, इस बात को बताने के लिये "द्वय" शब्द का प्रयोग किया है। जैसे—बाह्य हेतु दो प्रकार का है, आत्मभूत-अनात्मभूत। आत्मा के साथ सम्बन्ध को प्राप्त शरीर में विशिष्ट नामकर्म के उदय से निर्मित अवस्थान-परिमाण निर्माण युक्त चक्षु आदि इन्द्रियों का समूह आत्मभूत बाह्य हेतु है और प्रदीप आदि अनात्मभूत बाह्य हेतु हैं। अनात्मभूत और आत्मभूत के भेद से अभ्यन्तर हेतु भी दो प्रकार है। उनमें मन, वचन, काय की वर्गणाओं के निमित्त से होने वाला आत्मप्रदेश परिस्पदन रूप द्रव्ययोग अंतः प्रविष्ट होने से अभ्यन्तर अनात्मभूत हेतु कहलाता है तथा द्रव्ययोग निमित्तक ज्ञान रूप भाव योग एवं वीर्यांतर, ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न आत्मा की विशुद्धि अभ्यन्तर आत्मभूत हेतु कहलाती है। इन हेतुओं के विकल्पों का यथासम्भव आत्मा के सन्निधान होता है। यथासम्भव का तात्पर्य यह है कि इन सर्व हेतुओं का सन्निधान होने पर ही आत्मा का ज्ञानादि उपयोग हो ऐसा नियम नहीं है—जैसे किसी के प्रदीपादि के सन्निधान के बिना चक्षुरादि की विज्ञान में प्रवृत्ति होती है,

इसलिये मनुष्यादि को बाह्य अनात्मभूत दीपकादि हेतु के सन्निधान की आवश्यकता है—परन्तु रात्रिचर बिल्ली आदि के प्रकाश के बिना भी चक्षु आदि की विज्ञान में प्रवृत्ति हो जाती है। इसलिये अनियम है। चक्षुरादि का भी पंचेन्द्रिय विकलेन्द्रिय एकेन्द्रिय के विषयत्व से सन्निधान एवं असन्निधान के प्रति अनियम हैं अर्थात् इन्द्रियाँ भी सभी के सब नहीं हैं—यथायोग्य ही रहती हैं। अंतःकरण भी (योग भी) असंज्ञी के मन को छोड़कर, दो होते हैं और संज्ञी के तीन होते हैं। एकेन्द्रिय, विग्रहगती प्राप्त जीव और समुद्घातगत सयोग केवली के एक काययोग ही होता है। क्षीण कषाय पर्यन्त क्षयोपशमानुसार तन्निमित्तक एक ही भावयोग होता है। इसके आगे ज्ञानावरणादि का क्षय हो जाता है। इस प्रकार यथासम्भव बाह्याभ्यन्तर कारणों का सन्निधान होता है। चैतन्य आत्मा का अनादि का अनादि स्वभाव है—उस चैतन्य को धारण करना स्वभाव होने से चैतन्यानुविधायी कहलाता है—जैसे सुवर्ण के अनुविधायी होने से कंकण कुंडलादि के विकार (पर्याय) भी सुवर्ण ही कहलाते हैं, उसी प्रकार आत्मा का परिणाम उपयोग कहलाता है।

मतिज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होने पर जीव के सम्पूर्ण प्रदेश में होने पर भी छद्मस्थ जीव को इन्द्रियादि बाह्य उपकरण के बिना मतिज्ञान नहीं होता है। जैसे एकसंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव की आँखें फूट जाने के पश्चात् वह अन्तरंग में क्षयोपशम रूप उपादान कारण होते हुए भी बाह्य निमित्त रूप उपकरण के अभाव से देखने में असमर्थ होता है। अन्तरंग में क्षयोपशम एवं इन्द्रिय उपकरण होने पर भी प्रकाश की सहायता से देखने वाले जीव प्रकाश का अभाव होने से देख नहीं सकता है। अन्तरंग क्षयोपशम इन्द्रियादि उपकरण एवं प्रकाश होने पर भी यदि पलक बंद है तो वह नहीं देख सकता है। क्षयोपशम उपकरण, प्रकाशादि होते हुए भी मंत्रादि विशिष्ट शक्ति से दृष्टि शक्ति के स्तम्भित होने पर वह नहीं देख सकता है। इससे सिद्ध होता है कि प्रत्येक कार्य के लिये योग्य अन्तरंग व बहिरंग कारण के साथ-साथ विरोधी कारणों का अभाव भी नितान्त आवश्यक है। इसीलिये सिद्धान्त शास्त्र कषायपाहुड में निम्न प्रकार कहा है—

ण च कारणेण विणा कज्जमुप्पज्जइ।
सव्वकालं सव्वस्स उप्पत्ति-अणुप्पत्तिप्प संगादो ॥

कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति मानना ठीक नहीं है; क्योंकि यदि ऐसा होने लगे तो सर्वदा सभी कार्यों की उत्पत्ति अथवा अनुत्पत्ति का प्रसंग प्राप्त होता हैं—

समर्थस्य करणे सर्वदोत्पत्तिरनपेक्षत्वात् (परीक्षामुख) ॥६।६३॥

यदि पदार्थ स्वयं समर्थ होकर क्रिया करते हैं तो सदा कार्य की उत्पत्ति होनी चाहिए, क्योंकि केवल सामान्य आदि कार्य करने में किसी दूसरे की अपेक्षा नहीं रखते।

जिससे कार्य सम्पादन होता है उसको प्रत्यय, कारण, निमित्त, साधन आदि नाम से अभिहित करते हैं। कारण अनेक प्रकार के होते हैं यथा अन्तरंग, बहिरंग, प्रेरक, उदासीन, ज्ञापक आदि-आदि। अन्तरंग आदि कारणों का वर्णन पूर्व में कर चुके हैं वर्तमान प्रेरकादि कारण का संक्षिप्त वर्णन करेंगे। पञ्चास्तिकाय की ८८ गाथा का व्याख्यान करते हुए आचार्य श्री अमृतचन्द्र सूरि बताते हैं कि—

ण य गच्छदि धम्मत्थी गमणं ण करेदि अण्णदवियस्स।
हवदि गदिस्सप्पसरो जीवाणं पुग्गलाणं च ॥८८॥
पंचास्तिकाय

'Dharmastikaya does not move itself nor effect motion in other things, but it forms the condition of motion in living and nonliving things.' 'धर्मास्तिकाय गमन नहीं करता और अन्य द्रव्य को गमन नहीं कराता वह जीवों तथा पुद्गलों की गति का प्रसारक (सहायक) होता है।' यथा—हि गति परिणतः प्रभञ्जनो वैजयंतीनां गति परिणामस्य हेतुकर्ताऽवलोक्यते न तथा धर्मः। स खलु निष्क्रियत्वात् न कदाचिदपि गतिपरिणाममेवापद्यते। कुतोऽस्य सहकारित्वेन परेषां गति परिणामस्य हेतुकर्तृत्वम्। किन्तु सलिलमिव मत्स्यानां जीव पुद्गलानाम श्रय कारण मात्रत्वेनोदासीन एवासौ गतः प्रसरो भवति। अपि च यथा गतिपूर्वं स्थिति परिणतस्तुरगोऽश्ववारस्य स्थिति परिणामस्य हेतुकर्त्ताविलोक्यते न तथाऽधर्मः। स खलु निष्क्रियत्वात् न कदाचिदपि गति पूर्वं स्थिति परिणाममेवापद्यते। कुतोऽस्य सहस्थिति परिणामस्य हेतुकर्तृत्वम् किं तु पृथिवी वस्तुरंगस्य जीव पुद्गलानामाश्रय कारणमात्रत्वेनोदासीन एवासौ गतिपूर्वस्थितेः प्रसरो भवतीति ॥८८॥

The existence of these two principles must be potulated as the necessary conditions of the world for without this there will be neither motion nor rest among things. There will be neither the world nor beyond. If the material particles and Jivas are not kept together as a system, then they will get scattered through the whole place resulting in Sheer chaos. There will be no definite world There will be neither the beyond or Aloka. The difference between Loka and Aloka is entirely due to the coherent system of molecules and Jivas, conditioned by these

principles. Dharma and Adharma are said to be district because of the difference in function. The former is the condition of motion, the latter of rest. But they are quite similar in nature and are indistinguishable because of their non-exclusive in space. They are in themselves niskriya dravyas. Non-active and non-functional and yet condition the things living and non-living in their motion and rest. For this reason they are limited entirely to the world. Their function will not be felt beyond the world for the simple reason that there are no things beyond.

जैसे घोड़ा स्वयं चलता हुआ अपने चढ़े हुए सवार के गमन का कारण होता है, ऐसा धर्मास्तिकाय नहीं है, क्योंकि वह क्रिया रहित है, किन्तु जैसे जल स्वयं ठहरा होता है तो भी स्वयं अपनी इच्छा से चलती हुई मछलियों के गमन में उदासीनपने से निमित्त हो जाता है, वैसे धर्मद्रव्य भी स्वयं ठहरा अपने ही उपादान कारण से चलते हुए जीव और पुद्गलों को बिना प्रेरणा किये हुए उनके गमन में बाहरी निमित्त हो जाता है। यद्यपि धर्मास्तिकाय उदासीन है तो भी जीव पुद्गलों की गति में हेतु है। जैसे जल उदासीन है तो भी वह मछलियों के अपने ही उपादान बल से गमन में सहकारी होता है। जैसे स्वयं ठहरते हुए घोड़ों को पृथ्वी व पथिकों को छाया सहायक है वैसे ही अधर्मास्तिकाय स्वयं ठहरा हुआ है तो भी अपने उपादान कारण से ठहरे हुए जीव और पुद्गलों की स्थिति में बाहरी कारण होता है ऐसा भगवान श्री कुन्दकुन्द देव का अभिप्राय है।

उपरोक्त आगम प्रमाण से सिद्ध होता है कि प्रत्येक कारण जीव-पुद्गलों की गति सहायक धर्मद्रव्यवत् केवल उदासीन नहीं है। कथञ्चित्-कदाचित् कुछ कारण प्रेरकादि भी होते हैं। जैसे रेलगाड़ी की गति के लिए पैट्रोल, ड्राइवर आदि प्रेरक हैं तथा रेल पटरी, धर्मद्रव्य (ईथर) आदि उदासीन निमित्त हैं। सिगनल (संकेत) रेलगाड़ी की गति स्थिति के लिए ज्ञापक कारण है। रेल में बैठकर यात्रा करने वाले यात्रियों के लिए रेलगाड़ी प्रेरक कारण है तथा धर्मद्रव्य, आकाश, काल उदासीन कारण है। ध्वजा की गति के लिये गतिशील वायु प्रेरक कारण है एवं धर्मद्रव्य उदासीन कारण है। विद्यार्थी की विद्या अध्ययन करने के लिए ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम अन्तरंग कारण है, विद्यादाता प्रेरक कारण है। पुस्तक, प्रकाशादि उदासीन कारण है। संवाद को सम्प्रेषण करने के लिए रेडियो, टी० वी०, न्यूजपेपरादि निमित्त कारण हैं।

विश्व संरचना के लिये निमित्त

अकृत्रिम अनादि निधन शाश्वतिक विश्व स्वाभाविक, अकृत्रिम होते हुए भी प्रत्येक समय में परिणमनशील भी है। इस विश्व के मूलभूत मौलिक द्रव्य छः हैं। यथा—(१) जीव (२) पुद्गल (३) धर्म (४) अधर्म (५) आकाश (६) काल द्रव्य हैं। वे द्रव्य स्वाभाविक रूप से परस्पर उपकारी एवं उपस्कृत होते हैं। बिना सहकार, सहयोग, सम्बन्ध एवं सहअस्तित्व उनकी सत्ता ही असम्भव हो जायेगी। परस्पर सहकारादि कारणों से उनकी सत्ता है एवं उसमें परिणमन भी होता है जिससे कि विश्व की सत्ता एवं विश्व का परिणमन होता है। छहों द्रव्यों के परस्पर सहकार के बारे में वर्णन करते हुए आचार्य प्रवर उमास्वामी ज्ञान-विज्ञान के विश्वकोष स्वरूप तत्त्वार्थ सूत्र में निम्न प्रकार वर्णन करते हैं—

"गति स्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मयोरुपकारः" ॥१७॥

The function of dharma and adharma is to support respectively the motion and rest of souls and matter.

गतिशील जीव एवं पुद्गल को धर्मद्रव्य गमन में उदासीन सहाय होता है। स्थितिशील जीव एवं पुद्गल को अधर्म द्रव्य स्थिति में सहाय होता है। द्रव्य संग्रह में सिद्धान्त चक्रवर्ती आचार्य नेमीचन्द्र ने भी कहा है—

गइ परिणयाण धम्मो पुग्गल जीवाण गमन सहयारी।
तोयं जह मच्छाणं अच्छंताणेव सो णेई ॥७॥

As water assists the movement of moving fish, so Dharma (assists the movement of moving) Pudgala and Jiva. (But) it does not move (Pudgala and Jiva which are) not moving. गतिशील जीवों और पुद्गलों को गमन में सहकारी धर्म द्रव्य है। जैसे गतिपरिणत मछलियों को जल सहकारी है। परन्तु अगतिशील जीव-पुद्गलों के लिए धर्म द्रव्य सहकारी नहीं होता है। जैसे गमन नहीं करती हुई मछली को स्थिर जल मछली को प्रेरणा देकर गमन नहीं कराता है उसी प्रकार स्थिर जीव व पुद्गल को प्रेरणा देकर धर्मद्रव्य गमन नहीं कराता है। इसलिये गमन करने में धर्मद्रव्य उदासीन कारण है।

आधुनिक वैज्ञानिक आइनस्टीन आदि भी प्रत्येक द्रव्य और शक्ति की गति के लिए माध्यम (Medium) की नितान्त आवश्यकता को स्वीकार करते हैं। जैसे ध्वनि तरंगों की गति के लिए धातु, जल, वायु, ईथर आदि यथायोग्य माध्यम की आवश्यकता होती है। प्रकाश की गति के लिए ईथर रूपी माध्यम की

आवश्यकता होती है। बिना धर्म द्रव्य कोई भी स्थानान्तरित या गतिशील रूप क्रिया नहीं हो सकती है। चलना, फिरना, बैठना, दौड़ना, श्वासोच्छवास क्रिया वायु संचालन, खाना, पीना, बोलना, पलक झपकना, लिखना, यहाँ तक कि रक्त संचालन एवं परमाणु की गति के लिये धर्म द्रव्य की आवश्यकता होती है। अर्थात् किसी प्रकार की भी परिस्पदनात्मक क्रिया धर्म द्रव्य के अभाव में नहीं हो सकती है। यहाँ तक कि अनन्त बलवीर्य के धनी स्वभावत: उर्ध्वगमन शक्ति सहित सिद्ध भगवान एक समय में लोकाग्र में स्थिर हो जाते हैं। यहाँ स्वाभाविक प्रश्न होता है कि क्या सिद्ध भगवान की शक्ति लोकाग्र तक गमन योग्य थी ? गमन करने योग्य क्षेत्र आकाश की सीमा वहाँ तक ही है ? या गमन का काल उतना ही है ? नहीं। सिद्ध भगवान की शक्ति अनन्त होने से तथा उर्ध्वगमनत्व स्वभाव होने से लोकाग्र तक गमन करने की शक्ति एवं स्वभाव मानना असत्य एवं आगम विरुद्ध है। आकाश अनंत होने के कारण आकाश की सीमा लोकाकाश के अग्र में समाप्त नहीं होती है परन्तु उसके आगे आकाश अनन्त है। भविष्यत काल भूतकाल की अपेक्षा अनन्त गुणित होने से काल भी समाप्त नहीं होता है। पुन: प्रश्न होता है कि सिद्ध भगवान की उर्ध्वगमनत्व रूप क्रिया लोकाकाश के अग्रभाग में अवरुद्ध क्यों हो जाती है ? इसका वैज्ञानिक तथ्य पूर्ण उत्तर आचार्य उमास्वामी देते हुए कहते हैं—

"धर्मास्तिकायाभावात्" ॥८॥ (तत्त्वार्थसूत्र १० अध्याय)

But it does not rise higher than the extreme limit of लोक (Loka or the Universe) because (beyond it there is) the non-existence of धर्मास्तिकाय (Dharmastikya or the medium of motion.)

'गत्युपग्रहकारण भूतो धर्मास्तिकायो नोपर्यस्तात्य लोके गमनाभाव: ।
तद्भावे च लोकालोक विभागाभाव: प्रसज्यते ॥ (सर्वार्थसिद्धि:)

गतिरूप उपकार का कारणभूत धर्मास्तिकाय लोकान्त के ऊपर नहीं है इसलिये अलोक मे गमन नहीं होता। और यदि अलोक में गमन माना जाता है तो लोकालोक के विभाग का अभाव प्राप्त होता है।

न धर्माभावत: सिद्धा गच्छन्ति परतस्तत: ।
धर्मोहि सर्वदा कर्ता जीव पुद्गलयोर्गते: ॥२२१२॥
(भगवती आराधना)

त्रैलोक्य के अंत तक धर्मास्तिकाय होने से सिद्ध जीवों की गति लोकान्त तक हीं होती है। अलोक मे जीव और पुद्गल गति हेतु का अभाव होने से लोक के ऊपर गति नहीं होती।

उपरोक्त आगमोक्त प्रसिद्ध उदाहरण से सिद्ध होता है कि उपादान कारण होते हुये भी केवल उदासीन निमित्त कारण के अभाव से गमन रूप क्रिया नहीं हुई। अत: सिद्ध हुआ कि निमित्त कारण की भी आवश्यकता होती है।

ठाण जुदाण अधम्मो पुग्गल जीवाण ठाण सहयारी ।
छाया जह पहियाणं गच्छंता णेव सो धरई ॥१८॥
(द्रव्य संग्रह)

As shadow (assists the staying of) the travellers, (so) Adharma assists the staying of the Pudgalas and Jivas which are stationary. But that (i. e. Adharma) does not hold back moving. (Pudgalas and Jivas).

स्थिति सहित जो पुद्गल और जीव हैं उनकी स्थिति में सहकारी कारण अधर्म द्रव्य है जैसे पथिकों (बटोहियों) की स्थिति में छाया सहकारी है और गमन करते हुये जीव तथा पुद्गलों को वह अधर्म द्रव्य नहीं ठहराता है।

गति परिणत जीव एवं पुद्गल जब स्थिर होते हैं तब अधर्म द्रव्य स्थिर होने के लिये सहायक होता है। अधर्म द्रव्य के अभाव से कोई भी जड़ (पुद्गल) चैतन्यात्मक द्रव्य कभी भी स्थिर नहीं हो सकते हैं। अधर्म द्रव्य के अभाव से गति क्रिया युक्त द्रव्य सतत् अस्थिर ही रहेंगे जिसके कारण गमन करने वाले जीव पशु-पक्षी आदि बैठने के लिये, स्थिर होने के लिये या सोने की इच्छा करने पर भी तदनुकूल कार्य करने में असमर्थ रहेंगे। चलती हुई गाड़ी, वायुयान, मोटर, साइकिल आदि को भी स्थिर करने के लिये ब्रेक लगाने पर भी स्थिर नही होंगे।

धर्म-अधर्म के अभाव से विश्व की संरचना भी अस्त-व्यस्त हो जायेगी क्योंकि धर्म द्रव्य के बिना यदि जीव-पुद्गल गति करने मे समर्थ होंगे तो लोकाकाश का अतिक्रमण करके अलोकाकाश में भी फैल जायेंगे जिससे लोकाकाश की सीमा अनन्त तक फैल जायेगी। सीमा अनन्त तक फैलने से पुद्गल स्कन्धों का घनत्व ह्रास हो जायेगा फलस्वरुप विभिन्न स्कन्धों की संरचना विघटित हो जायेगी। संरचना विघटित होने से विश्व की जो अकृत्रिम सूर्य-चन्द्र, ग्रह, पृथ्वी आदि हैं उनका भी विघटन, क्षरण होना अनिवार्य हो जायेगा। दोनों द्रव्यों के अभाव से सम्पूर्ण विश्व की गतिविधियां अस्त-व्यस्त होने से लोकाकाश-अलोकाकाश का विभाग भी समाप्त हो जायेगा।

आकाश द्रव्य का उपकार

"आकाशस्यावगाहः" ॥१८॥ (तत्वार्थ सूत्र पञ्चम अध्याय)

The function of space, i. e., Akasha is to give place to all other substances.

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल द्रव्य को अवकाश देना आकाश का उपकार है।

अवगास दाण जोग्गं जीवादीणं वियाण आयासं।
जेणं लोगागासं अल्लोगागासमिदि दुविहं ॥१९॥
(द्रव्य संग्रह)

Know that which is capable of allowing space to Jiva, etc., to be Akasa, according to Jainism. Lokakasa and Alokakasa, thus (Akasa is) of two kinds.

जो जीव आदि द्रव्यों को अवकाश देने वाला है उसको श्री जिनेन्द्रदेव के द्वारा कहा हुआ आकाश द्रव्य जानो। वह लोकाकाश और अलोकाकाश इन भेदों से दो प्रकार का है।'

प्रत्येक द्रव्य में प्रदेशत्व गुण के कारण एक निश्चित आकार-प्रकार होता है। इसलिये प्रत्येक द्रव्य को रहने के लिये अवकाश की आवश्यकता होती है। प्रत्येक द्रव्य को अवकाश देने वाला आकाश द्रव्य है।

द्रव्य परिणमन निमित्तक हेतु काल द्रव्य

"वर्तना परिणाम क्रियाः परत्वापरत्वे च कालस्य" ॥२२॥
(तत्त्वार्थसूत्र पंचम अध्याय)

The function of time is to assist to substances in their cotinuing to exist (Vartana), in their modifications (Parinama) in their movements (Kriya) and in their priority (Paratva) and non-priority or juniority in time (aparatva).

वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व ये काल के उपकार हैं।

In other standard Jain works the time has been defined as follows—

वत्तणा लक्खणो कालो।
(उत्तराध्ययन सूत्र २८·१०)

Vartana (Assisting in their continuity of being) is the characteristic of time.

जीवादी दव्वाणं परिवट्टण कारणं हवे कालो ॥
(नियमसार ३३)

That which helps all substances, soul, etc., in undergoing modifications, is time.

वत्तण हेदु कालो वत्तन गुण भविय दव्वणिचयेसु।
काला धारेणेव च वट्टंति हु सव्वदव्वाणि ॥५६८॥
(गोम्मटसार जीवकांड)

Time is the cause of continuity in being. The attribute of continued existence is in all the six realities of the universe. And all substances undergo change through the support of time.

ण य परिणमदि सयं सो ण य परिणामेइ अण्णमण्णेहिं।
विविह परिणामियाणं हवदि हु कालो सयं हेदू ॥५७०॥
(गोम्मटसार जीवकांड)

Time never alters itself into other substances nor does it change other substances into itself. It is merely the auxiliary cause of different kinds of modifications in other substances.)

दव्व परिवट्टरुवो जो सो कालो हवेइ ववहारो।
परिणामादी लक्खो वट्टण लक्खो य परमट्ठो ॥२१॥
(द्रव्यसंग्रह)

Practical or Apparent time is that which is known from modifications produced in substances, while real time is that

which helps to produce changes in substances and is understood from continuity.

According to Jains, time is divided into two Classes Vyavahara Kala and Niscaya Kala, i.e., Apparent and real time.

Apparent time is defiend as—

नवजीर्णादि पर्यायैर्द्रव्यानां यः प्रवर्तकः ।
समयादि मयः कालो व्यवहाराभिधोऽस्ति सः ॥१६·३४॥
(वर्धमान पुराण)

Apparment Time consists of hours, minutes, seconds, etc., by whice we call a thing to be new or old.

व्यावहारिक कालस्य परिणामस्तथा क्रिया ।
परत्वं चापरत्वं च लिंगान्याहुर्महर्षयः ॥३·४५॥
(तत्त्वार्थ सार)

The apparent time is known from the modifications (Parinama) that it produces in substances and from the relations of the sun, the moon and the earth (Kriya) and it is with the help of it that we determine (Paratva, Aparatva) antecedence or non precedence in time of substances and events).

प्रत्येक द्रव्य द्रव्यदृष्टि से ध्रुव होने पर भी पर्याय दृष्टि से परिणमनशील है। परिणमन करना प्रत्येक द्रव्य का स्वस्वभाव होने पर भी परिणमन के लिये काल द्रव्य की सहायता नितान्त आवश्यक है। काल द्रव्य के बिना कोई भी द्रव्य परिणमन नहीं कर सकता है। परिणमन के बिना द्रव्य ध्रुव नहीं रह सकता है। ध्रुव बिना सत्ता का विनाश हो जायेगा तथा सत्ता के अभाव में सर्वशून्यता की प्राप्ति होगी। परन्तु यह प्रत्यक्ष विरोध है।

जीवद्रव्य का परस्पर में उपकार

परस्परोग्रहो जीवानाम् ॥२१॥
(तत्त्वार्थसूत्र ५ अध्याय)

The mundane souls help and support each other.

परस्पर निमित्त होना यह जीवों का उपकार है।

स्वामी भृत्यः, आचार्यः शिष्यः। इत्येवमादि भावेन वृत्ति परस्परोपग्रहः। स्वामी तावद्धित्त त्यागादिना भृत्यानामुपकारे वर्तते। भृत्याश्च हितप्रति पादनेनाहित प्रतिषेधेन च। आचार्य उभयलोक फल प्रदोषपदेशदर्शनेन तदुपदेश विहित क्रिया नुष्ठानेन च शिष्याणामनुग्रहे वर्तते। शिष्या अपि तदानुकूल्य प्रवृत्या आचार्यणामु पकाराधिकारे ……।"
(सवार्थ सिद्धि" ५६७॥)

स्वामी और सेवक तथा आचार्य और शिष्य इत्यादि रूप से वर्तन करना परस्परोपग्रह है। स्वामी तो धन आदि देकर सेवक का उपकार करता है और सेवक हित का कथन करके तथा अहित का निषेध करके स्वामी का उपकार करता है। आचार्य दोनों लोक में सुखदायी उपदेश द्वारा तथा उस उपदेश के अनुसार क्रिया में लगाकर शिष्यों का उपकार करता है और शिष्य भी आचार्य के अनुकूल प्रवृत्ति करके आचार्य का उपकार करते हैं।

The master and his servant, the teacher and the taught are examples of mutual obligation. The Master helps and servant with money and the servant repays through his humble service, a teachers render a great service through his sound training and advice while the pupil repays the same through his good conduct.

पुद्गल का उपकार

सुख-दुख जीवित मरणोग्रहाश्च ॥२०॥
(तत्त्वार्थ सूत्र ५ अध्याय)

Soul experiences pain, pleasure, life and death through the agency of matter.

सुख, दुख, जीवन और मरण ये भी पुदगलों के उपकार हैं।

कत्ता भोत्ता आदा पोग्गल कम्मस्स होदि ववहारो ॥६८॥

(नियमासार)

From the practical point of view, a worldly soul draws in the fine Karmic matter in consequence of the activities of mind, body and speech and experiences results.

व्यवहार नय से संसारी जीव पुदगल कर्म का कर्त्ता भी है और भोक्ता भी है। संसारी जीव यथायोग्य मन, वचन, काय के परिस्पन्दन से कर्म को ग्रहण करता है एवं मिथ्यात्वादि के कारण कर्मों को बांधता है, इसलिये वह पुदगल कर्म का कर्त्ता है। जब वह कर्म उदय में आकर फल देता है। तदनुकूल जीव का परिणमन भी होता है एवं सुख-दुख का वेदन करता है। इसलिये वह पुद्गल कर्म का भोक्ता है।

शरीर वाङ्मनः प्राणापानाः पुद्गलानाम् ॥६॥

(तत्त्वार्थ सूत्र ५ अध्याय)

शरीर, वचन, मन और प्राणायान यह पुद्गलों का उपकार है।

Matter forms the physical basis of the bodies, speach, mind the respiration of the souls.

....पुग्गलाणि पुणो।
देहादीणिव्वत्तण कारण भूदा हु णियमेण ॥६०६॥गो० जी०
आहार वग्गणादो, विण्णि सरीराणि होंति उस्सासो।
णिस्सासो वि य तेजो वग्गण खं धादु तेजं गं ॥६०७॥गो० जी०
भासमण वग्गणादो कमेण भासा मणं च कम्मादो।
अट्ठ विह कम्म दव्वं होदि त्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं ॥६०८॥गो० जी०

Matter is the cause of making of the bodies. One kind of molecules. Called Aharakavargana, form the first three types of bodies described on page 64 ante and the respiration. Electrical energy form the fourth type, viz. the electrical body.

शरीर, इन्द्रिय, मन, श्वासोच्छवास, भाषा आदि के द्वारा पुद्गल द्रव्य जीव का उपकार करता है तथा पुद्गल द्रव्य जीव का उपकार करता है यहीं नहीं किन्तु

परस्पर में भी उपकार करता है। जैसे शास्त्र का उपकार गत्ता, वेष्टन आदि करते हैं और कांसे आदि के बर्तनों को शुद्ध करके भस्म उनका उपकार करती है इत्यादि। यहाँ पर चकार का ग्रहण किया है, इसलिये जिस तरह परस्पर में या एक-दूसरे का जीव पुद्गल उपकार करते हैं उस तरह अपकार भी करते हैं क्योंकि द्रव्यों के फल निर्देश में अच्छे या बुरे का भेद नहीं है।

२३ जाति की वर्गणाओं में से आहार वर्गणा के द्वारा औदारिक, वैक्रियिक-आहारक ये तीन शरीर और श्वासोच्छ्वास होते हैं तथा तेजों वर्गणा रूप स्कन्ध के द्वारा तैजस शरीर बनता है।

भाषा वर्गणा के द्वारा चार प्रकार का वचन, मनोवर्गणा के द्वारा हृदय स्थान में अष्टदल कमल के आकार द्रव्यमन, तथा कार्मण वर्गणा के द्वारा ८ प्रकार के कर्म बनते हैं ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से प्रत्येक आत्मा स्वतंत्र एवं स्वयं ही शुद्ध स्वभाव का कर्त्ता भोक्ता होने पर भी व्यवहार दृष्टि से संसार अवस्था में जीव पुद्गल कर्म का कर्त्ता भोक्ता भी है। योग एवं उपयोग के कारण जो कर्म बन्ध होता है उसके उदयस्वरूप शरीर, इन्द्रिय, मन आदि प्राप्त होते है। इतना ही नहीं गर्भावस्था में माता द्वारा भुक्त आहार का रस ग्रहण करके शरीर पुष्ट होता है। जन्म के पश्चात् शरीर की स्थिति, पुष्टि, बृद्धि के लिये पुद्गल रूपी आहार, जल, वायु को ग्रहण करता है। प्राकृतिक प्रकोप से शरीर की रक्षा के लिये पुद्गल से निर्मित गृह आदि का आश्रय लेता है। गमना गमन के लिये पौद्गलिक यान-वाहन का आश्रय लेता है। मनोरंजन के लिये रेडियो, टी० वी० आदि पौद्गलिक उपकरणों का उपयोग करता है। शरीर की सुरक्षा के लिये, सौन्दर्य वृद्धि के लिये वस्त्र, परिधान, प्रसाधन द्रव्यों का उपयोग करता है। इसी प्रकार संसार अवस्था में संसारी जीवों के अनेक उपकार पुद्गल के अवदान से होता है। इतनी ही नहीं पौद्गलिक आयु कर्म के उदय से जन्म होता है पौद्गलिक आयु कर्म के क्षय से मरण भी होता है। अस्त्रादि प्रहार से, विषपान से, व्रजपात से, बम के विस्फोट से जीवों का मरण भी होता है। औषध सेवन से रोग दूर होता है तो अशुद्ध आहार सेवन से, नशीली वस्तुओं के सेवन से रोग भी होता है। इसी प्रकार पुद्गल के निमित्त से जीव को उपकार-अपकार होता है।

यह विश्वसंचरना के लिये छहों द्रव्यों का योगदान है। यदि एक भी द्रव्य अपना योगदान देना छोड़ देगा तो विश्व की संरचना, गतिविधि एवं व्यवस्था अस्त-व्यस्त होकर विश्व विध्वंस हो जायेगा। संक्षिप्ततः द्रव्यों को स्थान देने के लिये आकाश योगदान देता है तब धर्म द्रव्य गति के लिये सहायक होता है, अधर्म द्रव्य स्थिति के लिये सहायक होता है, काल द्रव्य परिणमन के लिये सहायक होता है। जीव द्रव्य सम्पूर्ण द्रव्य का ज्ञाता दृष्टास्वरूप महान् द्रव्य है।

❋❋

अध्याय २

संसारावस्था के लिये निमित्त

प्रत्येक जीव स्वभावतः प्राकृतिक रूप से अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य का स्वामी है। स्वभाव का कभी अभाव नहीं होता है। तो भी संसार अवस्था में जीव अनन्त दुःख, अज्ञान को अनुभव करता है। यहाँ पर प्रश्न होना स्वाभाविक है कि अनन्त ज्ञान, सुखादि गुण तिरोभाव क्यों एवं कैसे हुये? इस प्रश्न का प्रत्युत्तर आध्यात्मिक योगी कुन्दकुन्दाचार्य समयसार में दिये हैं—

सो सव्वणाणदरिसी कम्मरयेण णियेणवच्छण्णो।
संसारसमावण्णो णवि जाणदि सव्वदा सव्वं ॥१६७॥

"स शुद्धात्मा निश्चयेन समस्तपरिपूर्णज्ञानदर्शनस्वभावोऽपि निजकर्मरजसोवच्छिन्नो झम्पितः सन्। संसारसमापन्नः संसारे पतितः सन् नैव जानाति सर्वं वस्तु, सर्वतः सर्वप्रकारेण।"

आत्मा स्वभाव से ही वस्तु मात्र का जानने वाला, देखने वाला है। फिर भी वह अपनी कर्मरूपी रज से आच्छादित है। अतः संसार को प्राप्त होता हुआ सर्वप्रकार से सम्पूर्ण वस्तुओं को जान नहीं रहा है।

"The self who is by nature all-knowing and all-perceiving when soiled by his own Karmas is dragged on towards Samsara the cycle of births and deaths, and becomes incapable of knowing all things completely.

अनन्त शक्ति सम्पन्न जीव को पराभूत करने वाला प्रतिपक्ष द्रव्य भी अनन्त शक्ति सम्पन्न होना चाहिये, क्योंकि कम शक्ति से अधिक शक्ति को पराभूत करना संभव नहीं है। इसलिये जीव के उपादान भूत अनन्त गुण को घात करने वाला निमित्तभूत कर्म भी अनन्त शक्ति सम्पन्न है। परमात्म प्रकाश में योगेन्द्र देव कर्मशक्ति का वर्णन करते हुये बताते हैं—

कम्मई दिढ-घण चिक्कणई गरुवई वज्ज समाइं।
णाण-वियक्खणु जीवडउ उप्पहि पाडहिं ताइं ॥७८॥

अनन्त ज्ञान वीर्यादि गुणों से युक्त भगवान आत्मा को कुपथ में पटकने वाला कर्म अत्यन्त बलवान् घनस्वरूप, दूसरों के द्वारा (जीव), सहज से नष्ट नहीं होने

वाला अत्यन्त चिकने एवं वज्र के समान कठोर एवम् भारी होने से अभेद्य एवं अच्छेद्य है।

आचार्यप्रवर भट्टअकलंकदेव स्वामी संसार का मूलकारण बताते हुए 'राजवार्तिक' में बताते हैं कि—

तदात्मनोऽस्वतन्त्रीकरणे मूलकारणम्।

वह (कर्म) आत्मा को परतन्त्र करने में मूल कारण है।

आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने इष्टोपदेश में भी कहा है—

मोहेन संवृतं ज्ञानं स्वभावं लभते न हि।
मत्तः पुमान्पदार्थानां यथा मदनकोद्रवैः ॥७॥

जिस प्रकार नशीले कोदों के सेवन से जीव मदमत्त होकर हिताहित विवेक से रहित हो जाता है, उसी प्रकार मोहकर्मरूपी मद्य से पराभूत होकर—आच्छादित होकर स्वाभाविक अनन्त ज्ञान अपना स्वशुद्ध स्वरूप को प्राप्त नहीं कर पाता है—जान नहीं पाता है।

अनादिकाल से अनन्त ज्ञानादि सम्पन्न यह परमात्मा द्रव्य कर्म से पराभूत होकर संसार में दर-दर भिखारी होकर परिभ्रमण कर रहा है। वस्तुनिष्ठ दृष्टि से देखने पर जीव में अनन्त शक्ति होते हुए भी कर्म परवशतः अनन्त शक्ति व्यक्ति रूप में नहीं है, परन्तु अव्यक्त होने के कारण केवल संभावना रूप में सुप्तावस्था में जीव में अवस्थित है। इसलिए पर्यायनिष्ठ दृष्टि से देखने एवं विचार करने पर अनादि काल से कर्म की परतंत्रता से संसारी जीव की शक्ति बहुत ही क्षीण है एवं कर्म की शक्ति बहुत ही दृढ़ है। इसलिए यह जीव अनादि काल से संसार में परिभ्रमण कर रहा है। संसारावस्था में जीव एवं कर्म का द्वन्द्व-युद्ध चलता है।

"कत्थवि बलिओ जीवो कत्थवि कम्माइं हुंति बलियाइं।
जीवस्स य कम्मस्स य पुव्वविरुद्धाइं वइराइं॥"
(उद्धृत इष्टोपदेश टीका)

कभी-कभी जीव बलवान् हो जाता है और कभी-कभी कर्म बलवान् हो जाता है। इसी प्रकार जीव एवं कर्म का पूर्वकालीन अनादि से विरुद्ध एवं वैरत्व चल रहा है।

कर्म कर्महिताबन्धि जीवो जीवहितस्पृहः।
स्वस्वप्रभावभूयस्त्वे स्वार्थं को वा न वांछति ॥३१॥

कर्म अपने हितरूपी साथी कर्म को ही बाँधता है। जीव अपने आत्मा के हित की इच्छा करता है। जब कर्म शक्तिशाली होता है तब अपने सहयोगी कर्म को संग्रहित करके और भी अधिक शक्ति संगठित करके जीव के ऊपर अपना पूर्ण प्रभाव डालता है। अर्थात् जीव को अपने अधिकार में कर लेता है। जब जीव योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को प्राप्त करके शक्ति सम्पन्न होता है तब अपने हित साधन के लिए कर्म के बंधन को क्षीण एवं विध्वंस करता है। ठीक ही है—अपने-अपने शक्तिशाली प्रभाव के होने पर कौन सा व्यक्ति अपना हित नहीं चाहता है अर्थात् सभी चाहते हैं।

प्रत्येक जीव अनेक गुण के पिण्डस्वरूप होते हैं। उन अनेक गुणों का घात करने वाले अनेक कर्म होते हैं। प्रत्येक कर्म के बारे में विशेष जानने के लिए गोम्मटसार-कर्मकाण्ड, धवल, जयधवल आदि सिद्धान्तशास्त्रों का परिशीलन करना चाहिए। यहां पर कुन्दकुन्दाचार्य कृत 'समयसार' से प्रस्तुत करता हूँ—

वत्थस्स सेदभावो जह णासेदिमलविमेलणाच्छण्णो।
मिच्छत्तमलोच्छण्णं तह सम्मत्तं खु णादव्वं ॥१६४॥

वत्थस्स सेदभावो जह णासेदिमलविमेलणाच्छण्णो।
अण्णाणमलोच्छण्णं तह णाणं होदि णादव्वं ॥१६५॥

वत्थस्स सेदभावो जह णासेदिमलविमेलणाच्छण्णो।
तह दु कसायाच्छण्णं चारित्तं होदि णादव्वं ॥१६६॥
(त्रिकलम्)

"As the whiteness of cloth is destroyed by its being covered with dirt, so let it be known that right faith is blurred by wrong belief. As the whiteness of cloth is destroyed by its being covered with dirt, so let it be known that right knowledge is destroyed, when clouded by nescience. As the whiteness of cloth is destroyed by its being covered with dirt, so let it be known that right conduct becomes perverted when vitiated by soul soiling passions."

जैसे मैल के विशेष सम्बन्ध से अवच्छिन्न होकर अर्थात् दबकर वस्त्र का श्वेतपना नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार मिथ्यात्व मल के विशेष सम्बन्ध से दबकर जीव के मोक्ष का हेतुभूत सम्यक्त्व गुण नष्ट हो जाता है। जैसे मैल के विशेष सम्बन्ध से दबकर वस्त्र का श्वेतपना नष्ट हो जाता है, वैसे ही जीव का मोक्ष का

हेतुभूत ज्ञान गुण भी अज्ञान रूपी मल से दबकर नष्ट हो जाता है तथा जैसे मैल के विशेष सम्बन्ध से वस्त्र का श्वेतपना नष्ट हो जाता है वैसे ही कषायरूप मल से दबकर मोक्ष का हेतुभूत जीव का चारित्र गुण भी नष्ट हो जाता है।

इस प्रकार मोक्ष के हेतुभूत आत्मा के सम्यक्त्वादि गुण हैं उनके प्रतिविरोधी मिथ्यात्व, अज्ञान और कषायभाव हैं जो कि आत्मा के सम्यक्त्वादि गुणों को रोके हुए हैं, होने नहीं देते। जैसे आकाश में सूर्य उदित होने पर भी घने बादल के कारण सूर्य रश्मि ढक जाती है उसी प्रकार कर्मरूपी बादल के कारण ज्ञानरूपी रश्मि ढक जाती है। शुद्ध स्फटिक मणि शुभ्र होने पर भी लाल रंग के संयोग से लाल दिखाई देती है, हरे रंग के संयोग से हरा दिखाई पड़ती है उसी प्रकार कर्मयोग से जीव की अवस्था विभिन्न प्रकार की होती है। बद्धमान कर्म जब अपनी प्रचण्ड शक्ति सहित उदय में आता है तब जीव स्वाभाविक गुण, वैभाविक गुण में परिणमन हो जाते हैं, अर्थात् जीव में स्वाभाविक रूप से जो परिणमन होता है उसका मूलकारण कर्म ही है। कुन्दकुन्द स्वामी समयसार में जीव के वैभाविक गुण का महत्त्व बतलाते हुए कहते हैं—

सम्मत्तपडिणिबद्धं मिच्छत्तं जिणवरेहिं परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो मिच्छादिट्ठित्ति णादव्वो ॥१६८॥

णाणस्य पडिणिबधं अण्णाणं जिणवेरहिं परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो अण्णाणी होदि णादव्वो ॥१६९॥

चरित्तपडिणिबद्धं कसायं जिणवरेहिं परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो अचरित्तो होदि णादव्वो ॥१७०॥

"It is declared by Jina that mithyatva Karma is adverse to right Belief; when that begins to operate, the Self becomes a wrong believer; so let it be known. It is declared by Jina that nescience is adverse to right knowledge; when that begins to operate; the self becomes ajriani (one deviod of knowledge); so let it be known. It is declared by Jina that kashaya (soul-soiling gross emotions) is adverse to right conduct; when this begins to operate, the self becomes ocharitra (deviod of Right conduct); so let it be known.' आत्मा के सम्यक्त्व गुण को रोकने वाला मिथ्यात्व कर्म है जिसके उदय से यह जी

मिथ्यादृष्टि हो रहा है। आत्मा के ज्ञान गुण का प्रतिबन्धक अज्ञान है जिसके उदय से यह जीव अज्ञानी हो रहा है तथा चारित्र गुण को रोकने वाला कषायभाव है जिसके उदय से यह जीव चारित्र रहित अर्थात् अचारित्री हो रहा है ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने बताया है। द्रव्य दृष्टि से निम्न श्रेणीय लब्ध्यपर्याप्तक एकेन्द्रिय, अभव्य, निगोदिया जीव से लेकर पूर्ण विकसित शुद्ध-बुद्ध अनन्त ज्ञान सम्पन्न सिद्ध भगवान तक सम्पूर्ण जीव एक समान हैं। क्योंकि इनमें जातीय अपेक्षा से कोई अन्तर नहीं है। नेमीचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती बताते हैं कि—"सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया" शुद्ध निश्चय नय से संसारी जीव भी सिद्ध भगवान के समान शुद्ध भाव का धारक है। आध्यात्मिक दृष्टिकोण से सम्पूर्ण जीव में आध्यात्मिक साम्यवाद है। स्वभाव दृष्टि से समान होने पर संसारी जीव में जो वैचित्रता दृष्टिगोचर होती है उसका कोई विशिष्ट कारण होना चाहिये। इसका कारण कर्म है। कुन्दकुन्दस्वामी नियमसार में बताते हैं—

'णाणा जीवा णाणा कम्मं णाणाविहं हवेलद्धी।'

अनेक जीव हैं, अनेक प्रकार के कर्म हैं और अनेक कर्म के अनुसार अनेक लब्धि हैं।

कम्मेण विणा उदयं जीवस्स णविज्जदे उवसमं वा।
खइयं खओवसमियं तम्हा भावं तु कम्मकदं ॥५८॥

"न खलु कर्मणा विना जीवस्योदयोपशमौ क्षयक्षायोपशमावपि विद्येते, ततः क्षायिकक्षायोपशमिकश्चौदयिकौपशामिकश्च भावः कर्मकृतोऽनुमंतव्यः। पारिणामिकस्त्वनादिनिधनो निरूपाधिः स्वाभाविक एव। क्षायिकस्तु स्वभावव्यक्ति रुपत्वादनंतोऽपि कर्मणः क्षयेणोत्पद्यमानत्वात्सादिरिति कर्मकृत एवोक्तः। औपशमिकस्तु कर्मणामुपशमे समुत्पद्यमानत्वात्, अनुपशमे समुच्छिद्यमानत्वात्, कर्मकृत एवेति। अथवा, उदयोपशमक्षयक्षयोपशमलक्षणाश्चतस्रो द्रव्यकर्मणामेवावस्थाः न पुनः परिणामलक्षणैकावस्थस्य जीवस्य तत् उदयादि संजातानामात्मनो भावानां निमित्तमात्रभूत तथा विधावस्थात्वेन स्वयं परिणमनाद् द्रव्यकर्मापि व्यवहारनयेनात्मनो भावानां कर्तृत्वमापद्यत इति ॥५८॥" कुन्दकुन्द

कर्म के बिना जीव को उदय-उपशम तथा क्षय-क्षयोपशम नहीं होते (अर्थात् द्रव्यकर्म के बिना जीव को औदयिकादि चार भाव नहीं होते) इसलिये, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक या औपशमिक भावों को कर्मकृत सम्मत करना। पारिमाणिक भाव तो अनादि अनन्त, निरुपाधि स्वाभाविक ही है। क्षायिकभाव, यद्यपि स्वभाव

की व्यक्तिरूप (प्रगटतारूप) होने से अनन्त (अन्तरहित) है, तथापि कर्मक्षय द्वारा उत्पन्न होने के कारण सादि है, इसलिये कर्मकृत ही कहा गया है। औपशमिकभाव कर्म के उपशम से उत्पन्न होने के कारण तथा अनुपशम से नष्ट होने के कारण कर्मकृत ही है। अथवा उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशमस्वरूप चार (अवस्थाएँ) द्रव्यकर्म की ही अवस्थाएँ हैं, परिणामस्वरूप एक अवस्था वाले जीव की नहीं है, इसलिये उदयादिक द्वारा उत्पन्न होने वाले आत्मा के भावों को निमित्तमात्रभूत, ऐसी उस प्रकार की अवस्थाओं रूप (द्रव्यकर्म) स्वयं परिणमित होने के कारण द्रव्यकर्म भी व्यवहारनय से आत्मा के भावों के कर्तृत्व को प्राप्त होता है ॥५८॥

स्वभावतः प्राकृतिक रूप से जीव का स्वरूप अमूर्तिक, अभौतिक एवं ज्ञान-विज्ञानमय है। परन्तु संसार अवस्था में ससारी जीव पर्याय अपेक्षा मूर्तिक एवं रागद्वेष मल से कलुषित परिलक्षित होता है। इस प्रकार विपरीत वैभाविक परिणमन का कारण क्या है, इसी प्रकार की जिज्ञासा मन में पैदा होना स्वाभाविक है। इसका प्रत्युत्तर देते हुए पूज्यपाद स्वामी ने सिद्धभक्ति में बताया है कि—"अस्त्यात्मानादिबद्धः" संसारी आत्मा अनादिकाल से कर्मबन्धन से बंधा हुआ है। अतः पौद्गलिक कर्म सम्बन्ध से सांसारिक जीवपर्याय दृष्टि से मूर्तिक है। इसी बात को स्पष्ट करने के लिये श्रीमद्देवसेनस्वामी ने अलग पद्धति में कहा है कि—

जीवस्याप्यसद्भूतव्यवहारेण मूर्त्तस्वभावः ॥१६४॥

अशुद्धभूत व्यवहारनय से पुद्गल से संश्लेषित सांसारिक जीव मूर्त स्वभाव वाला है। इसलिए कुन्दकुन्दस्वामी ने प्रवचनसार में संसार का कारण स्वभाव बताते हुए निम्न प्रकार से कहा है—

तम्हा दु-णत्थि कोई सहावसवट्ठिदो त्ति संसारे।
संसारो पुण किरिया संसारमाणस्स दव्वस्स ॥१२०॥

"In this world, therefore, there is nothing as such absolutely established in its nature, after all mundane existence is (only) an activity of the soul-substance which is moving (in four grades of existence)."

वास्तव में जीव द्रव्यत्व से अवस्थित होने पर भी पर्यायों से अजवस्थित है, इससे यह प्रतीत होता है कि संसार में कोई भी (वस्तु) स्वभाव से अवस्थित नहीं है। (अर्थात् किसी का स्वभाव केवल अविचल–एक रूप रहना नहीं है।) और यहाँ (इस संसार में) जो अनवस्थितता है उसमें संसार ही हेतु है, क्योंकि उसके (संसार के) मनुष्यादि–पर्यायात्मकपना है, कारण कि वह संसार रूप से ही वैसा (अनवस्थित)

है। (अर्थात् संसार का स्वरूप ही ऐसा है।) अब परिणमन करते हुए द्रव्य का जो पूर्व दशा का परित्याग तथा उत्तर दशा का ग्रहण रूप क्रिया नामक परिणाम है, वह ही संसार का स्वरूप है।

द्रव्य अपेक्षा स्वभाव एवं जाति अपेक्षा प्रत्येक जीव समान होते हुए भी संसारिक जीव में जो विभिन्न विचित्रता परिलक्षित होती है उसका कारण बताते हुए कलिकाल सर्वज्ञ महाप्राज्ञ वीरसेन स्वामी ने धवला में बताया है—"ण च कारणेण विणा कज्जाणमुप्पत्ती अत्थि।...ततो कज्जमेत्ताणि चेव कम्माणि वि अत्थि त्ति णिच्छयो कायव्वो। जदि एवं तो भमर-महुवर...कयंबादि सण्णिदेहि वि णामकम्मेहि होदव्वमिदि। ण एस दोसो इच्छिज्जमाणादो।"

कारण के बिना तो कार्यों की उत्पत्ति होती नहीं है, इसलिये जितने (पृथिवी, अप्, तेज आदि) कार्य हैं उतने उनके कारणरूप कर्म भी हैं, ऐसा निश्चय कर लेना चाहिये। प्रश्न—यदि ऐसा है तो भ्रमर-मधुकर-कदम्ब आदि नामों वाले भी नामकर्म होने चाहियें? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, यह बात तो इष्ट है।

इसी कर्म सिद्धान्त को राजवार्तिक में तार्किक शिरोमणि अकलंकदेव स्वामी निम्न प्रकार बतलाते हैं—

लोके हरिशार्दूलवृकभुजगादयो निसर्गतः क्रौर्य शौर्याहारादिसंप्रतिपत्तौ वर्तन्ते इत्युच्यन्ते न चासावाकस्मिकी कर्मनिमित्तत्वात्।

लोक में भी शेर, भेड़िया, चीता, सांप आदि में शूरता-क्रूरता, आहार आदि परोपदेश के बिना होने से यद्यपि नैसर्गिक कहलाते हैं, परन्तु वे आकस्मिक नहीं हैं, क्योंकि कर्मोदय के निमित्त से उत्पन्न होते हैं।

उपरोक्त सिद्धान्त एवं दृष्टान्तों से सिद्ध होता है कि कर्म के निमित्त को प्राप्त करके यह जीव अनेक वैभाविक परिणामों को प्राप्त होकर नर-नरकादि गति में विभिन्न दुःखों को भोगता रहता है। स्वभावतः उपादान स्वरूप से जीव अनन्त सुख एवं शान्ति का अखण्ड पिण्ड होते हुए भी निमित्त कारण के संयोग से उपादान में वैभाविक परिणमन होता है जिससे जीव स्वभाव से च्युत होकर अनन्त अज्ञान एवं मोह एवं असंख्य दुःख को भोगता है। यदि कर्मरूपी निमित्त को नहीं मानेंगे तब शुद्ध उपादान में वैभाविक परिणमन नहीं होगा एवं वैभाविक परिणाम के अभाव से संसार का अभाव हो जायेगा। संसार के अभाव से मोक्ष का भी अभाव हो जायेगा। ससार एवं मोक्ष का अभाव मानना सत्य, आगम, तर्क, अनुमान का प्रत्यक्ष विरोध है। इसलिए निमित्त एवं नैमित्तिक कार्यकारण सम्बन्ध को स्वीकार करना केवल आवश्यक ही नहीं है, अनिवार्य भी है।

☼——☼

अध्याय ३

आस्रव बन्ध के निमित्त

शुद्ध द्रव्यार्थिक दृष्टि से प्रत्येक जीव शुद्ध-बुद्ध निष्कम्प निष्कषाय होने से द्रव्य कर्म, भाव कर्म, नोकर्म से संश्लेष नहीं हो सकता है। क्योंकि पूर्वोक्त सिद्धान्तानुसार जीव अनादि काल से द्रव्य कर्म, भाव कर्म, नो कर्म से रहित है। जब पूर्वोपार्जित द्रव्य कर्म उदय में आता है, उस समय उसकी प्रतिक्रियास्वरूप जीव में राग-द्वेष, मोहादि रूप भावकर्म उत्पन्न होते हैं पुनः भावकर्म के अनुसार नवीन द्रव्यकर्म का सचय होता है। पुनः द्रव्यकर्म के उदय से भावकर्म का प्रादुर्भाव होता है। इसी प्रकार बीज वृक्ष न्याय से या अण्डा-पक्षी न्याय से द्रव्यकर्म से भावकर्म और भावकर्म से द्रव्यकर्म उत्पन्न होते हैं। बिना द्रव्यकर्म के उदय से भावकर्म त्रिकाल में त्रिजगत् में कदाचित् कथञ्चित् भी उत्पन्न नहीं हो सकता है। कथञ्चित् द्रव्य कर्म के उदय से उत्कृष्ट आत्मशक्ति सम्पन्न महान् साधक भावकर्म रूप में परिणमन कर भी सकता है या नहीं, परन्तु जहाँ पर भाव कर्म रूप परिणमन है वहाँ पर द्रव्यकर्म का उदय अनिवार्य है। द्रव्यकर्म की शक्ति भी इतनी प्रचण्ड है कि उपशम श्रेणी में आरोहण करने वाले महा मुनिश्वर भी कालानुसार द्रव्यकर्म का उदय होने पर यथाख्यात चारित्र से च्युत होकर निम्न गुणस्थान को प्राप्त कर लेते है। कर्मबन्ध के निमित्तनैमित्तिक भाव को दर्शाते हुए कुन्दकुन्द स्वामी पंचास्तिकाय में निम्नोक्त प्रकार बताते हैं—

भावो कम्मणिमित्तो कम्मं पुण भाव कारणं हवदि।
ण दु तेसिं खलु कत्ता ण विणा भूदा दु कत्तारं ॥६०॥

(पंचास्तिकाय)

"Bhava or emotional states are conditioned by Dravya Karma or matter. And Karma in its turn is indeed conditioned by Karmic thought of Bhava. Soul is not the essential cause in that case and still without essential cause those changes cannot happen."

"भावो निर्मल चिज्ज्योतिः स्वभावाच्छुद्धजीवास्तिकायात्प्रतिपक्षभूतो भावो मिथ्यात्व रागादि परिणामः। स च किंविशिष्टः। कम्मणिमित्तं-कर्मोदय रहिताच्चैतन्य चमत्कार मात्रात्परमात्म स्वभावात्प्रतिपक्षभूतं यदुदयागतं कर्म तन्निमित्तं यस्य स भवति कर्म निमित्तः। कम्मं-पुण-ज्ञानावरणादि कर्म रहिताच्छुद्धात्म तत्त्वाद्विलक्षणं

यद्भावि द्रव्यकर्म पुनः। तत्कथंभूतं? भावकारणं हवदि-निर्विकार शुद्धात्मोपलब्धि भावात्प्रतिपक्ष भूतो योसौ रागादि भावः स कारणं यस्य तद्भावकारणं भवति। ण दु नैव तु पुनः तेसिं तयोर्जीवगत रागादि भाव द्रव्य कर्मणोः। किं नैव। कत्ता-परस्परोपादान कर्तृत्वं, खलु-स्फुटं, ण विणा नैव विना। भूदा-दु-भूते संजाते तु पुनस्ते द्रव्यभाव कर्मणी द्वे। कं विना। कत्तारं-उपादान कर्तारं विना किन्तु जीवगत रागादि भावानां जीव एवोपादानकर्ता, द्रव्य कर्मणां कर्म वर्गणा योग्य पुद्गला ऐवति। द्वितीय व्याख्याने तु यद्यपि जीवस्य शुद्धनयेनाकर्तृत्वं तथापि विचार्यमाणमशुद्धनयेन कर्तृत्वं स्थितिमिति भावार्थः ॥६०॥

निर्मल चैतन्यमई ज्योति स्वभाव रूप शुद्ध जीवास्तिकाय से प्रतिपक्षी भाव जो मिथ्यात्व व रागादि परिणाम है वह कर्मों के उदय से रहित चैतन्य का चमत्कार मात्र जो परमात्म स्वभाव है उससे उलटे जो उदय में प्राप्त कर्म हैं उनके निमित्त से होता है तथा ज्ञानावरण आदि कर्मों से रहित जो शुद्धात्म तत्व है उससे विलक्षण जो नवीन द्रव्यकर्म हैं सो निर्विकार शुद्ध आत्मा की अनुभूति से विरुद्ध जो रागादि भाव हैं उनके निमित्त से बंधते हैं। ऐसा होने पर भी जीव सम्बन्धी रागादि भावों का और द्रव्यकर्मों का परस्पर उपादानकर्तापना नहीं है तो भी वे रागादि भाव और द्रव्य कर्म दोनों बिना उपादान कारण के नहीं हुए हैं किन्तु जीव सम्बन्धी रागादि भावों का उपादानकर्ता जीव ही है तथा द्रव्य कर्मों का उपादानकर्ता कर्म वर्गणा योग्य पुद्गल ही है। दूसरे व्याख्यान में यह तात्पर्य है कि यद्यपि शुद्ध निश्चय नय से विचार किये जाने पर जीव रागादि भावों का कर्ता नहीं है तथापि अशुद्ध निश्चयनय से जीव रागादि भावो का कर्ता है यह बात सिद्ध है।

आदा कम्म मलिमसो परिणामं लहदि कम्म संजुत्तं।
तत्तो सिलिसदि कम्मं तम्हा कम्मं तु परिणामे ॥१२१॥

(प्रवचन सार)

"यो हि नाम संसार नामायमात्मनस्तथाविधः परिणामः स एव द्रव्य कर्म संयुक्तत्वेनेवोपलम्भात्। एवं सतीतरेतराश्रय दोषः न हि। अनादि प्रसिद्ध द्रव्यकर्मभिसम्बद्ध स्यात्मनः प्राक्तन द्रव्यकर्मणस्तत्र हेतुत्वेनोपादानात् एव कार्यकारणभूत नव पुराण द्रव्य कर्मत्वादात्मन स्तथाविध परिणामो द्रव्यकर्मैव। तथात्मा चात्मपरिणाम कर्तृत्वाद् द्रव्य कर्म कर्तृप्युपचारात्।"

'संसार' नामक जो यह आत्मा का तथाविध (उस प्रकार का) परिणाम है वही द्रव्यकर्म के चिपकने का (बंध का) हेतु है। अब, उस प्रकार के परिणाम का हेतु कौन है? (इसके उत्तर में कहते हैं कि) द्रव्य कर्म उसका हेतु है, क्योंकि द्रव्य कर्म की सयुक्तता से ही वह (अशुद्ध परिणाम) कर्म है।

ऐसा होने से इतरेतराश्रय दोष आयेगा, क्योंकि अनादि सिद्ध द्रव्यकर्म के साथ सम्बद्ध आत्मा का जो पूर्व का द्रव्यकर्म है उसका वहाँ हेतुरूप से ग्रहण (स्वीकार) किया गया है।

इस प्रकार नवीन द्रव्यकर्म जिसका कार्यभूत है और पुराना द्रव्यकर्म जिसका कारणभूत है, ऐसा आत्मा का तथा विध परिणाम होने से, वह उपचार से द्रव्यकर्म ही है, और आत्मा भी अपने परिणाम का कर्ता भी उपचार से है।

जीव परिणाम हेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणंमति।
पुग्गल कम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमदि ॥८६॥
ण वि कुव्वदि कम्मगुणे जीणों कम्मं तहेव जीवगुणे।
अण्णोण्ण णिमित्तेण दु परिणामं जाण दोण्हंपि ॥८७॥

"जीव परिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति यथा कुम्भकारनिमित्तेन मृत्तिकाघटरूपेण परिणमति तथा जीवसम्बन्धिमिथ्यात्वरागदिपरिणमहेतुं लब्ध्वां कर्मवर्गणायोग्यं पुद्गलद्रव्यं कर्मत्वेन परिणमति। पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमदि यथैव च घटनिमित्तेन एवं करोमिति कुम्भकारः परिणमति तथैषोदयागत पुद्गलकर्म हेतुं लब्ध्वा जीवोऽपि निर्विकारचिच्चमत्कार परिणतिमलभमानः सन् मिथ्यात्वरागदिविभावेन परिणमतीति।"

"अथ ण वि कुव्वदि कम्मगुणे जीवो यद्यपि परस्परनिमित्तेन परिणमति तथापि निश्चयनयेन जीवों वर्णादिपुद्गल कर्मगुणान्न करोति। कम्म तदेव जीवगुणे कर्म च तथैवानन्तज्ञानादि जीवगुणान्न करोति। अण्णोण्णणिमित्तेन दु परिणामं जाण दोण्हंपि यद्यप्युपादानरूपेण न करोति तथाप्यन्योन्यनिमित्तेन घटकुम्भकारयोरिव परिणामं जानीहि द्वयोरपि जीवपुद्गलयोरिति।"

यद्यपि जीव के रागद्वेषी परिणामों का निमित्त पाकर पुद्गलद्रव्य कर्मत्व रूप परिणमन करता है। वैसे ही पौद्गलिक कर्मों के उदय का निमित्त पाकर जीव रागदि रूप परिणमन करता है। तथापि जीव कर्म के गुण रूपादिक को स्वीकार नहीं करता, उसी भाँति कर्म भी जीव के चेतनादि गुणों को स्वीकार नहीं करता, किन्तु मात्र इन दोनों का परस्पर एक-दूसरे के मिमित्त से उपर्युक्त विकारी परिणमन होता है।

एदेण कारणेण दु कत्ता आदा सएण भावेण।
पुग्गल कम्मकदाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं ॥८८॥(त्रिकलम्)

"अथ एदेण कारणेण दु कत्ता आदास एण भावेण एतेन कारणेण पूर्वसूत्रद्वय व्याख्यानरूपेण तु निर्मलात्मानुभूतिलक्षण परिणामेन शुद्धोपादानकारण भूतेनाव्याबा-

धानन्त सुखादिशुद्ध भावानां कर्ता। तद्विलक्षणेनाशुद्धोपादान कारणभूतेन रागाद्यशुद्धभावानां कर्ता भवत्यात्मा। कथं ? यथा मृत्तिकाकलशस्येति। पुग्गलकम्मकदाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं पुद्गलद्रव्यकर्मकृतानां न तु कर्ता सर्वभावानां ज्ञानावरणादि पुद्गलकर्मपर्यायाणामिति। एवं जीवपुद्गल परस्पर निमित्त कारण व्याख्यानम्.....

इस प्रकार जीव और पुद्गल के परस्पर में निमित्त कारणपना है इसका व्याख्यान किया है।

व्यवहारनय से भिन्न षट्कारक के अनुसार जीव वे रागद्वेष निमित्त पाकर कर्मपरमाणु द्रव्यकर्म रूप में परिणमन करता है। द्रव्यकर्म के उदय से भावकर्म उत्पन्न होते हैं। परन्तु निश्चयनय से एक द्रव्य अन्य द्रव्य का कर्ता नहीं होने से जीव परिणाम के हेतु पुद्गल नहीं है, एवं पुद्गल के परिणाम के हेतु जीव नहीं है। पंचास्तिकाय में कहा है—

निश्चयनयेनाभिन्नकारकत्वात्कर्मणो जीवस्य च स्वयं स्वरूप कर्तृत्वमुक्तम्।

निश्चयनय से अभिन्न कारक होने से कर्म और जीव स्वयं स्वरूप के (अपने-अपने रूप के) कर्ता हैं।

निश्चयनय से जीव पुद्गल का कर्ता नहीं होने पर भी व्यवहारनय से कर्ता है।

कहा भी है—

पुग्गलकम्मादीणं कत्ता ववहारदो दु णिच्छयदो।
चेदण कम्माणादा सुद्धणया सुद्धभावाणं ॥८॥
(बृहद्द्रव्यसंग्रहः)

Aecording to Vyavahara naya, Jiva is the doer of the pudgala karms. According to Nishchaya naya, (Jiva is the doer of) thought karmas. According to suddha Naya, (Jiva is the doer) of suddha Bhavas.

आत्मा व्यवहार से पुद्गल कर्म आदि का कर्त्ता है, निश्चय से चेतन कर्म का कर्त्ता है और शुद्धनय से शुद्ध का कर्त्ता है।

ववहारा सुहदुक्खं पुग्गलकम्मप्फलं पभुंजेदि।
आदा णिच्छयणयदो चेदणभावं खु आदस्स ॥९॥
(बृहद्द्रव्यसंग्रह)

According to Vyavahara naya, Jiva enjoys happiness and misery, the fruits of Pudyala Karmas. According to Nishchaya naya, Jiva has conscious Bhavas only.

आत्मा व्यवहार से सुख-दु ख रूप पुद्गल कर्मों को भोगती है और निश्चय-नय से आत्मा चेतत स्वभाव को भोगती है ।

यदि एकान्तत: निश्चयनय के समान व्यवहारनय से भी जीवकर्म का कर्ता नहीं है तब अनेक अनर्थ उत्पन्न हो जायेंगे । व्यवहार से भी जीव कर्म का कर्त्ता नहीं होने पर कर्मबन्धन नहीं होगा । कर्मबन्धन के अभाव से संसार का अभाव हो जायेगा । संसार के अभाव से मोक्ष का भी अभाव हो जायेगा । जो कि आगम, तर्क, प्रत्यक्ष एवं अनुभवविरुद्ध है । निश्चयनय का विषय व्यवहार में संयोजना करके शिष्य, गुरुवर्यकुन्दकुन्दाचार्य से निम्न प्रकार प्रश्न करता है—

कम्मं कम्मं कुव्वदि जदि सो अप्पा करेदि अप्पाणं ।
किध तस्स फलं भुञ्जदि अप्पा कम्मं च देदि फलं ॥६३॥
(पंचास्तिकाय प्राभृत)

"—अथ पूर्वोक्त प्रकारेणाभेदषट्कार की व्याख्याने कृते सति निश्चनयेनेदं व्याख्यानं कृतमिति नयविचारमजानन्नेकांत गृहीत्वा शिष्य: पूर्वपक्षं करोति:, कम्मं कर्म कर्तृ कम्मं कुव्वदि जदि यद्येकांतेन जीवपरिणामनिरपेक्षं सद्द्रव्यकर्म करोति "जदि" सो अप्पा करेदि अप्पाणं—यदि च स आत्मात्मानमेव करोति न च द्रव्य-कर्म । किह तस्स फलं भुंजदिकथमेतस्या कृतकर्मण: फलं भुक्ते । स क: । अप्पा-आत्मा कर्ता कम्मं च देदि फलं जीवेनाकृतं कर्म च कर्तृ कथमात्मने ददादि फलं न कथमपीति ।"

—आगे पूर्वोक्त प्रकार से अभेद छह: कारक का व्याख्यान करते हुये हुये निश्चयनय से यह व्याख्यान किया गया है । इसे सुनकर नयों के विचारों को न जानता हुआ शिष्य एकांत को ग्रहण करके पूर्वपक्ष करता है ।

यदि द्रव्यकर्म द्रव्यकर्म को एकांत से बिना जीव के परिणाम की उपेक्षा के करता है और वह आत्मा अपने को ही करता है—द्रव्यकर्म को नहीं करता है तो किस तरह आत्मा उस बिना किये हुये कर्म के फल को भोगता है और वह जीव से बिना किया हुआ कर्म आत्मा में फल कैसे देता है ? इस प्रश्न का आगमोक्त यथार्थ्य प्रत्युत्तर देते हुये कुन्दकुन्द स्वामी बताते हैं—

निश्चयेन जीवकर्मणोश्चैककर्तृवेऽपि व्यवहारेण कर्मदत्तफलोपलंभो जीवस्य न विरुध्यत इत्यत्रोक्तम् ।

जीवा पुग्गलकाया अण्णोण्णागाढगहणपडिबद्धा ।
काले विजुज्जमाणा सुहदुक्खं दिंति भुञ्जन्ति ॥६७॥

—आगे शिष्य ने जो पूर्व पक्ष किया था कि बिना किये हुये कर्मों का फल जीव किस तरह भोगता है उसी का उत्तर नय विभाग से जीव फल को भोगता है—ऐसा युक्तिपूर्वक दिखाते हैं ।

संसारी जीवों के अपने-अपने रागादि परिणामों के निमित्त से तथा पुद्गलों में स्निग्ध रूक्ष गुण के कारण द्रव्य कर्मवर्गणायें जीव के प्रदेशों में जो पहले से ही बंधी हुई होती हैं वे ही अपनी स्थिति के पूरी होते हुये उदय में आती हैं तब अपने-अपने फल को प्रगट कर झड़ जाती हैं, उसी समय वे कर्म अनाकुलता लक्षण जो पारमार्थिक सुख है उससे विपरीत परम आकुलता को उत्सन्न करने वाले सुख तथा दुख को उन जीवों को मुख्यता से देती है जो मिथ्यादृष्टि हैं अर्थात् जो निर्विकार चिदानंदमई एक स्वभाव रूप जीव को मिथ्यात्व रागादि भावों को एकरूप ही मानते हैं और जो मिथ्याज्ञानी हैं अर्थात् जिनको यह ज्ञान है कि जीव राग-द्वेष, मोहादि रूप ही होते हैं तथा जो मिथ्याचारित्री हैं अर्थात् जो अपने को रागादि के परिणमन में ही रत रखते हैं ऐसे मिथ्या दर्शन ज्ञान चारित्र में परिणमन करते हुये जीव अभ्यंतर में अशुद्ध निश्चय से हर्ष या विषादरूप तथा व्यवहार से बाहरी पदार्थों में नाना प्रकार इष्ट-अनिष्ट इन्द्रियों के विषयों के प्राप्तिरूप मधुर या कटुक विष के रस के आस्वादरूप सांसारिक सुख या दु:ख की वीतराग परमानन्दमयी सुखामृत के रसस्वाद के भोग को न पाते हुये भोगते हैं । निश्चय से तो वे अपने भावों को ही भोगते हैं, व्यवहार से वे पदार्थों को भोगते हैं ऐसा अभिप्राय जानना ।

एवं कत्ता भोत्ता होज्जं अप्पासगेहिं कम्मेहिं ।
हिंडदि पारमपारं संसारं मोहसंछण्णो ॥६९॥

—एवमयमात्मा प्रकटितप्रभुत्वशक्ति: स्वकै: कर्मभिर्गृहीत कर्तृत्व भोक्तृत्वा-धिकारोऽनादिमोहावच्छन्नत्वादुपजात विपरीताभिनिवेश: अत्यस्तमित सम्यग्ज्ञान-ज्योति: सांतमनंतं वा संसारं परिभ्रमतीति ।

—इस प्रकार अपने कर्मों से कर्त्ता भोक्ता होता हुआ आत्मा मोहाच्छादित वर्तता हुआ सांत अथवा अनंत संसार में परिभ्रमण करता है ।

—इस प्रकार प्रगट प्रभुत्वशक्ति के कारण जिसने अपने कर्मों द्वारा कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व का अधिकार ग्रहण किया है ऐसी इस आत्मा को, अनादि मोहाच्छादितपने के कारण विपरीत अभिनिवेश की उत्पत्ति होने से सम्यग्ज्ञानज्योति अस्त हो गई है, इसलिये यह सांत अथवा अनन्त संसार में परिभ्रमण करता है—

जं जं जे जे जीवा पज्जायं परिणमंति संसारे।
रायस्स य दोसस्स य मोहस्स वसा मुणेयव्वा ॥९८८॥

—संसार में जो-जो जीव जिस-जिस पर्याय से परिणमन करते हैं वे सब राग-द्वेष और मोह के वशीभूत होकर ही परिणमते हैं, ऐसा जानना।

सम्यक्त्व उत्पत्ति के लिए निमित

सम्यक् दर्शन आत्मा का स्वाभाविक गुण होने पर भी दर्शन मोहनीय कर्म के अभिघात से सम्यक् दर्शन मिथ्या दर्शन रूप में परिणमन कर रहा है। अन्तरंग, बहिरंग कारण को प्राप्त करके भव्य जीव सम्यक् दर्शन को प्राप्त करता है। सम्यक् दर्शन स्वाभाविक आत्मा का गुण होने पर भी कर्मरूपी निमित्त से विभाव रूप परिणमन कर रहा है एवं बहिरंग सहकारी योग्य निमित्त को प्राप्त कर स्वाभाविक सम्यक् दर्शन रूप प्रगट होता है। सम्यक् दर्शन उत्पत्ति के कारण बताते हुए आचार्य उमास्वामी तत्वार्थ सूत्र में बताते हैं—

तन्निसर्गादधिगमाद् वा ॥३॥

सम्यक् दर्शन निसर्ग (स्वभाव) और अधिगम (परोपदेश) दो प्रकार से उत्पन्न होता है।

अनादि मिथ्यादृष्टि बिना गुरुपदेश सम्यक् दर्शन प्राप्त नहीं कर सकता है। प्रथम बार सम्यक् दर्शन प्राप्त करने के लिए गुरुपदेश रूपी निमित्त की आवश्यकता है। एकबार सम्यक् दर्शन उत्पत्ति के बाद पुनः च्युत होने पर पूर्व संस्कार से या गुरु के कम उपदेश से जो सम्यक् दर्शन उत्पन्न होता है उसे निसर्ग सम्यक् दर्शन कहते हैं। मोक्षमार्ग का शुभारम्भ गुरुपदेश रूपी निमित्त से ही होता है। नियमसार से कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा भी है—

सम्मत्तस्सणिमित्तं जिणसुत्तं तस्स जाणया पुरिसा।

सम्यग्दर्शन का निमित्त जिन सूत्र है, अथवा जिन सूत्र के जानने वाले पुरुष हैं।

उभयत्र तुल्ये अन्तरङ्गहेतौ बाह्योपदेशापेक्षाऽनपेक्षभेदाद् भेदः ॥५॥

उभयत्र सम्यग्दर्शने अन्तरङ्गो हेतुस्तुल्यः दर्शन मोहस्योपशमः क्षयः क्षयोपशमो वा, तस्मिन् सतियत् बाह्योपदेशाहते प्रादुर्भवति तन्नैसर्गिकम् यत परोपदेशपूर्वकं जीवाद्याधिगम निमित्तं तदुत्तरम् इत्यनयोरयं भेदः।

दोनों ही सम्यग्दर्शनों में अन्तरंग हेतु समान होने पर बाह्य उपदेश की अपेक्षा और अनपेक्षा भेद से भेद है। निसर्गज और अधिगमज इन दोनों सम्यग्दर्शनों में अन्तरंग कारण तो दर्शन मोह का उपशम क्षय या क्षयोपशम समान रूप से है। इन अन्तरंग कारणों के होने पर जो सम्यग्दर्शन बाह्य उपदेश के बिना प्रगट होता है वह निसर्गज कहलाता है तथा जो परोपदेशपूर्वक जीवादि अधिगम निमित्त होता है वह अधिगमज है।

द्रव्य क्षेत्र काल भाव रूप निमित्त

दर्शन मोहस्यापि सम्पन्नों जिनेन्द्रबिम्बादिद्रव्यं, समवसरणादि क्षेत्रं, कालश्चार्धपुद्गल परिवर्तन-विशेषादिर्भावश्चाधाप्रवृत्ति करणादिरिति निश्चीयते। तद्भावे तदुपशमादि प्रतिपत्तेः अन्यथा तदभावात्।

दर्शनमोह के नाश में भी द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव हेतू होते हैं। तहाँ जिनेन्द्रबिम्ब आदि तो द्रव्य हैं, समवशरण आदि क्षेत्र हैं, अर्ध पुद्गल परिवर्तन विशेष काल है, अधः प्रवृतिकरण आदि भाव हैं। उस मोहनीय कर्म का अभाव होने पर ही उपशमादि की प्रतिपत्ति होती है। दूसरे प्रकारों से उन उपशम आदि के होने का अभाव है।

कारणों की कथञ्चित मुख्यता

णइसाग्गयभवि पढमसम्मत्तं तच्चट्ठे उत्तं, तं हि एत्थेव दट्ठव्वं, जाइस्सरण जिणबिम्बदंसणेहि विणा उप्पज्जमाणणइसग्गिय पढमसम्मत्तस्स असंभवादो।

तत्वार्थ सूत्रों में नैसर्गिक प्रथम सम्यक्त्व का भी कथन किया गया है। उसका भी पूर्वोक्त कारणों से उत्पन्न हुये सम्यक्त्व में ही अन्तर्भाव कर लेना चाहिये। क्योंकि जाति-स्मरण और जिनबिम्ब दर्शन के बिना उत्पन्न होने वाला नैसर्गिक प्रथम सम्यक्त्व असम्भव है।

जिन बिम्ब दर्शन सम्यक्त्व का कारण कैसे ?

कथं जिनबिंबदंसणं पढमसम्मत्तुप्तीए कारणं। जिण बिम्बदंसणेणणिधत्त-णिकाचिदस्स वि मिच्छत्तादिकम्मकलावस्स रणवयदंसणादो।

प्रश्न—जिनबिम्बदर्शन प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति का कारण किस कारण से है ?

उत्तर—जिन बिम्ब के दर्शन से निधत्त और निकाचित रूप भी मिथ्या-त्वादि कर्मकलाप का क्षय देखा जाता है।

प्रारम्भ के तीन नरकों में जाति-स्मरण, धर्म-श्रवण और वेदनाभिभव ये तीन प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति के बाह्य साधन हैं। यद्यपि नारकियों के विभंगज्ञान होने से उन सबको यथासंभव पूर्व भवों का स्मरण होता है। किन्तु यहाँ पर पूर्वभवों का स्मरण मात्र प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति का साधन नहीं है किन्तु पूर्वभव में धार्मिक बुद्धि से जो अनुष्ठान किये थे वे विफल क्यों हुये इसे जानकर जो आत्म-निरीक्षण कर जीवादि नो पदार्थों के मनपूर्वक अपने उपयोग को आत्मा में युक्त करते हैं उनके जाति-स्मरण सम्यक्त्व की उत्पत्ति में बाह्य साधन है। धर्म-श्रवण पूर्व भव के स्नेही सम्यग्दृष्टि देवों के निमित्त से होता है क्योंकि वहाँ ऋषियों का जाना सम्भव नहीं है। यहाँ पर वेदनाभिभव को प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति का तीसरा बाह्य साधन कहा है। सो उसे ऐसा समझना चाहिये कि वेदना सामान्य प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति का बाह्य साधन नहीं है किन्तु जिनका ऐसा उपयोग होता है कि यह वेदना इस मिथ्यात्व तथा असंयम के सेवन से उत्पन्न हुई है उनके वह वेदना सम्यक्त्व की उत्पत्ति का साधन होता है। अन्त के चार नरकों में मात्र जाति-स्मरण और वेदनाभिभव ये दो ही प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति के बाह्य साधन हैं। यहाँ सम्यत्व की उत्पत्ति का बाह्य साधन धर्म-श्रवण सम्भव नहीं, क्योंकि इन नरकों में एक तो देवों का गमना गमन नहीं होता। दूसरे, वहाँ के नारकियों में भव के सम्बन्धवश या पूर्व के वैरत्व परस्पर में अनुग्राह्य-अनुग्राहक भाव नहीं पाया जाता। अतः वहाँ उक्त दो ही प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति के निमित्त हैं।

तिर्यञ्चों में प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति के बाह्य साधन तीन हैं—जाति-स्मरण, धर्म-श्रवण और जिनबिम्बदर्शन। ये ही तीन मनुष्यों में प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति के बाह्य साधन हैं। किन्हीं मनुष्यों को जिनमहिमा देखकर प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति होती है। पर इसे अलग से चौथा साधन मानने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि इसका जिनबिम्बदर्शन में अन्तर्भाव हो जाता है। कदाचित् किन्हीं मनुष्यों को लब्धिसम्पन्न ऋषियों के देखने से भी प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति होती है। पर इसे भी अलग से साधन मानने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि इसका जिनबिम्बदर्शन में अन्तर्भाव हो जाता है। सम्मेदाचल, गिरनार, चम्पापुर और पावापुर आदि का दर्शन भी जिनबिम्बदर्शन में ही गर्भित है क्योंकि वहाँ भी जिन-बिम्बदर्शन तथा मुक्तिगमन सम्बन्धी कथा का सुनना या कहना आदि के बिना प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति नहीं होती।

देवों में भी भवनवासी, वानव्यन्तर, ज्योतिषी और बारहवें कल्पतक के कल्पवासी देवों में प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति के चार मुख्यसाधन हैं—जाति-स्मरण, धर्म-श्रवण, जिनमहिमादर्शन और देवर्धिदर्शन। जिनमहिमादर्शन जिनबिम्बदर्शन के बिना बन नहीं सकता। इसलिये जिनमहिमादर्शन में ही गर्भित है। यद्यपि जिनमहिमादर्शन में स्वर्गावतरण और जन्माभिषेकादि गर्भित हैं, पर इनमें जिन-बिम्बदर्शन नहीं होता, इसलिये यह कह जा सकता है कि जिनमहिमादर्शन के साथ जिनबिम्बदर्शन का अविनाभाव नहीं है, सो ऐसा कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि वहाँ भी ये आगामी काल में साक्षात् जिन होने वाले हैं ऐसा बुद्धि में स्वीकार करके ही उक्त कल्याणक किये जाते हैं, अतः इन कल्याणकों में भी जिनबिम्बदर्शन बन जाता है अथवा ऐसे कल्याणकों को निमित्तकर जो प्रथम सम्यक्त्व उत्पन्न होता है उसे जिनगुणश्रवणनिमित्तक समझना चाहिये। देवर्धिदर्शन जाति-स्मरण से भिन्न साधन है क्योंकि अपनी-अपनी अणिमादि ऋद्धियों को देखकर ऐसा विचार होना कि ये ऋद्धियाँ जिनदेव द्वारा उपदिष्ट धार्मिक अनुष्ठान के फलस्वरूप उत्पन्न हुई हैं। जाति-स्मरण स्वरूप होने से इसको निमित्तकर उत्पन्न हुआ प्रथम सम्यक्त्व जाति-स्मरण निमित्तक है और ऊपर के देवों की महाऋद्धियों को देखकर जो ऐसा विचार करता है कि इन देवों के ये ऋद्धियाँ सम्यग्दर्शन से युक्त संयमधारण के फलस्वरूप उत्पन्न हुई हैं और मैं सम्यग्दर्शन से रहित द्रव्यसंयम पालकर वाहन आदि नीच देवों में उत्पन्न हुआ हूं उस जीव के ऊपर के देवों की ऋद्धि को देखकर उत्पन्न हुये प्रतिबोध से जो प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति होती है वह देवर्धिदर्शन-निमित्तक प्रथम सम्यक्त्व है। इस प्रकार जाति-स्मरण और देवर्धिदर्शन इन दोनों में अन्तर है। दूसरे जाति-स्मरण देवों में उत्पन्न होने के प्रथम समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त काल के भीतर ही होता है और देवर्धिदर्शन कालान्तर में होता है,

इसलिये भी इन दोनों में अन्तर है। आनतकल्प से लेकर अच्युतकल्प तक के देवों में देवर्धिदर्शन को छोड़कर प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति के पूर्वोक्त तीन साधन हैं। एक तो इन देवों में ऊपर के महर्धिक देवों का आगमन नहीं होता, दूसरे वहीं के देवों के महर्धि को बार-बार देखने से उन्हें आश्चर्य नहीं होता तथा तीसरे वहाँ शुक्ललेश्या होने से उनके संक्लेशरूप परिणाम नहीं होते, इसलिये वहाँ देवर्धिदर्शन प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति का साधन स्वीकार नहीं किया गया है। नौ ग्रैवेयकवासी देवों में प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति के दो साधन हैं—जाति-स्मरण और धर्म-श्रवण। यहाँ ऊपर के देवों का आगमन नहीं होता, इसलिये देवर्धिदर्शन साधन नहीं है। नन्दीश्वर द्वीप आदि में इनका गमन नहीं होता, इसलिये वहाँ जिनबिम्बदर्शन साधन भी नहीं है। वहाँ रहते हुये वे अवधिज्ञान के द्वारा जिनमहिमा को जानते हैं, इसलिये भी उनके जिनमहिमादर्शन प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति का बाह्यसाधन नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वे विस्मय को उत्पन्न करने वाले राग से मुक्त होते हैं, इसलिये उन्हें जिनमहिमा देखकर विस्मय नहीं होता। उनके अहमिन्द्र होते हुये भी उनमें परस्पर अनुग्राह्य-अनुग्राहक भाव होने से उनमें धर्म-श्रवण प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति का बाह्य साधन स्वीकार किया गया है।

क्षायिक सम्यग्दर्शन उत्पत्ति में कारण

क्षायिक अनन्त सम्यक्त्व आत्मा का स्वभाव होने पर भी मोहनीय कर्म के कारण वह शुद्धावस्था में प्रगट नहीं होता है। क्षायिक सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के लिये विशेष भावशुद्धि की आवश्यकता होती है। उस भावविशुद्धि के लिये विशिष्ट बाह्य निमित्त की आवश्यकता होती है। बिना विशिष्ट बाह्य निमित्त से क्षायिक सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं हो सकता है। बिना क्षायिक सम्यग्दर्शन क्षपक श्रेणी आरोहण नहीं हो सकता है। बिना क्षपक श्रेणी आरोहण घाति कर्म रूपी विशिष्ट पापकर्मों का निर्मूलन-विनाश नहीं हो सकता है। बिना घाति कर्म क्षय हुये अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य प्राप्त नहीं हो सकता है। बिना अनन्तचतुष्टय प्राप्त किये अरिहन्त भगवान नहीं बन सकते हैं। बिना अरिहन्त बने सिद्ध-बुद्ध नित्य-निरंजन पदवी को जीव प्राप्त नहीं कर सकता है। इस दृष्टि से बाह्यनिमित्त केवल लौकिक कार्य सम्पादन के लिये योगदान नहीं देता है परन्तु अलौकिक आध्यात्मिक कार्य-सम्पादन के लिये भी योगदान देता है। जयधवल सिद्धान्तशास्त्र में मूल आगम के अंशज्ञाता श्रीमद् भगवत् गुणभद्राचार्य क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करने के लिये जिन-जिन निमित्तों की आवश्यकता होती है उसका वर्णन करते हैं। यथा—

दसंणमोहक्खवणापट्ठवगो कम्मभूमिजादो दु।
णियमा मणुसगदीए णिट्ठवगो चावि सव्वत्थ ॥२१०॥

एदीए गाहाए दंसणमोहक्खवणापट्ठवगस्स कम्मभूमिजमणुसविसयत्तमवहारिदं दट्ठव्वं, अकम्मभूमिजस्स य मणुसस्स च देसणमोहक्खवणासत्तीए अच्चंताभावेण पडिसिद्धत्तादो। तदो सेसगदि पडिसेहेण मणुसगदीए चेव, णाकम्मभूमिजादो त्ति घेत्तव्वं। कम्मभूमिजादो वि तित्थयर केवलि-सुदकेवलीणं पादमूले दंसणमोहणीयं खवेदुमाढ़वेइ णाण्णत्थ।

इस गाथा द्वारा दर्शन मोह की क्षपणा का प्रस्थापक कर्मभूमिज मनुष्य ही होता है। इस विषय का निश्चय किया गया है ऐसा जानना चाहिये, क्योंकि अकर्म भूमिज मनुष्य के दर्शनमोह की क्षपणा करने की शक्ति का अत्यन्त अभाव होने के कारण वहाँ उसका निषेध किया गया है। इसलिये शेष गतियों में दर्शनमोहनीय की क्षपणा का प्रतिषेध होने से मनुष्य गति में ही विद्यमान जीव दर्शनमोह की क्षपणा का प्रारम्भ करता है। मनुष्य भी कर्मभूमि में उत्पन्न हुआ ही होना चाहिये, अकर्म-भूमि में उत्पन्न हुआ नहीं ऐसा यहाँ ग्रहण करना चाहिये। कर्मभूमि में उत्पन्न हुआ मनुष्य भी तीर्थङ्कर-जिन, केवली-जिन और श्रुतकेवली के पादमूल में अवस्थित होकर दर्शनमोहनीय की क्षपणा का प्रारम्भ करता है, अन्यत्र नहीं, क्योंकि जिसने तीर्थङ्कर आदि के महात्म्य को नहीं अनुभवा है उसके दर्शनमोहनीय की क्षपणा के कारणभूत करणपरिणामों की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

संवर निर्जरा के निमित्त

जीव शुद्ध द्रव्यार्थिक दृष्टि से ग्रहण त्याग से रहित टंकोत्कीर्ण विज्ञान घनस्वरूप है। तथापि व्यवहारनय अपेक्षा जीव आश्रवबंध सहित होने से अनन्तानन्त कर्मरूप परिणत पुद्गल-परमाणु जीव में सश्लेष रूप से, गाढ़ रूप से परिणित हुए हैं। स्वरूप की प्राप्ति करने के लिए जीव को बन्धन में डालने वाले कर्म का सम्पूर्ण रूप से आत्मा से पृथक करना अनिवार्य है। सम्पूर्ण रूप से कर्म का निष्कासन करना सरल, सहज, साध्य नहीं है, अतएव पूर्ण स्वतन्त्रता के लिये एवं कर्म की शक्ति क्षीण करने के लिए आने वाले कर्मों को रोकना एवं बन्ध हुए कर्मों को धीरे-धीरे निकालना आवश्यक है। इसी क्रिया को क्रमशः संवर और निर्जरा कहते हैं। जिन भावों से कर्मों का आश्रव एवं बंध हो रहा था उसके विपरीत भाव से संवर एवं निर्जरा होती है। जिस भाव से संवर एवं निर्जरा होती है उसको भाव संवर एवं भाव निर्जरा

कहते हैं। इसके फलस्वरूप जो द्रव्य कर्म का निरोध एवं निष्कासन होता है उसको द्रव्य संवर एवं द्रव्य निर्जरा कहते हैं। इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन नेमीचन्द सिद्धान्त चक्रवर्ती ने बृहत् द्रव्य संग्रह में निम्न प्रकार किया है—

चेदणपरिणामो जो कम्मंस्सासवणिरोहणे हेदू।
सो भावसंवरो खलु दव्वासंवरोहणे अण्णो ॥३४॥

"That modification of consciousness which is the cause of checking Asrava (influx) of Karma, is surely Bhavasamvara, and the other (known as Dravyasamvara is known from) checking Dravyasrava."

जो चेतना का परिणाम कर्म के आश्रव को रोकने में कारण है उसको निश्चय से भाव संवर कहते हैं और जो द्रव्यास्रव को रोकने में कारण है सो दूसरा अर्थात् द्रव्यसंवर है।

व्रतसमितिगुप्तयो धर्म्मानुप्रेक्षाः परीषहजयः च।
चारित्रं बहुभेदं ज्ञातव्याः भावसंवरविशेषाः ॥३५॥

"The Vratas (vows), Samitis (Attitudes of Carefulness) Guptis (Restraints), Dharmas (Observances), Anupreksas (Meditations), Parisahajayas (the victories over troubles) and various kinds of Charitra (conduct) are to be known as varieties of Bhavasamvara.

पाँच व्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति, दस धर्म, बारह अनुप्रेक्षा, बाईस परीषहों का जय तथा अनेक प्रकार का चारित्र इस प्रकार ये सब भाव संवर के भेद जानने चाहिये।

पच्चयमूदा दासा पच्चयभावेण णत्थि उप्पत्ती।
पच्चयभावे दोसा णस्संति णिरासया जहा बीयं ॥९८६॥

(मूलाचार)

"प्रत्ययात्कर्मबंधात् शिष्यादिमोहनिबन्धनकुलमोहकारणाद्भूताः संजाता दोषा राग द्वेषादयः कलुषजीवपरिणामाः प्रत्ययाभावाच्च रागद्वेषादिकारणभूतकर्माभावाच्चं नास्त्युत्पत्तिर्नैव प्रादुर्भावस्तेषां दोषाणां यतश्चोत्पत्तिर्नास्ति ततः प्रत्ययाभावात्कारणाभावादोषा मिथ्यात्वासंयमकषाययोगनिर्वर्तितजीवपरिणामा नश्यन्ति निर्मूलं क्षयमुपव्रजन्ति निराश्रयाः सन्तः स्वकीय प्रादुर्भावकारणमन्तरेण, यथा प्रत्ययाभावाद्बीजमंकुरं जनयतिबीजस्याकुरोत्पत्तिनिमित्तं क्षितिजलपवनादित्यरश्मयस्तेषामभावे विपरीते

पतितं बीजं यथा नश्यति। न येषां कारणानां सद्भावे ये दोषा उत्पद्यन्ते तेषां कारणानामभावे तत्फलभूतदोषाणामनुत्पत्तिर्यथा स्वप्रत्ययाभावात्स्वकारणाभावाद्बीजस्यानुत्पत्तिरंकुरत्वेन तत उत्पत्त्यभावान्निराश्रया रागद्वेषादयो दोषा नश्यन्ति यथा बीजमुत्पत्तिमंतरेण पश्चान्नश्यतीति ॥९८६॥

कर्मबन्ध से शिष्य आदि में मोह निमित्त से और संघ में मोह के कारण जीव के कलुषित परिणाम रूप राग-द्वेष आदि जीव में उत्पन्न हो जाते हैं। राग-द्वेष आदि के लिये कारणभूत कर्मों के अभाव से उन दोषों का प्रादुर्भाव नहीं होता है। कारण के न होने से मिथ्यात्व असंयम, कषाय और योग से होने वाले जीव के परिणाम निर्मूलतः क्षय को प्राप्त हो जाते हैं, क्योंकि वे अपनी उत्पत्ति के कारण के बिना आश्रय रहित हो जाते हैं। जैसे कारण के अभाव में बीज अंकुर उत्पन्न नहीं करता है। बीज के अंकुर की उत्पत्ति के लिये निमित्त पृथ्वी, जल, हवा और सूर्य की किरणें हैं। इनके अभाव में या विपरीत स्थान पर पड़ा हुआ बीज जैसे नष्ट हो जाता है वैसे ही उक्त विषय में समझना।

जिन कारणों के होने पर जो दोष उत्पन्न होते हैं उन कारणों के अभाव में उनके फलभूत दोषों की उत्पत्ति नहीं होती है, जैसे [illegible]ने लिए कारणभूत सामग्री के अभाव में बीज की अंकुर रूप से उत्पत्ति नहीं होती है। इसलिये उत्पत्ति के कारणों के न होने से आश्रय रहित राग-द्वेष आदि दोष नष्ट हो जाते हैं।

हेदू पच्चयभूदा हेदुविणासे विणासमुवयंति।
तह्मा हेदुविणासो कायव्वो सव्वसाहूहिं ॥९८७॥

(मूलाचार)

ततः क्रोधमानमायालोभाः प्रत्ययभूताः परिग्रहादयो लोभादिषु सत्सु जायन्ते ततस्तेषां लोभादीनां हेतूनां विनाशे प्रध्वंसे विनाशमुपयान्ति परिग्रहादयो यत् एवं ततो हेतुविनाशः कर्त्तव्यः सर्वसाधुभिः प्रमत्तादिक्षीणकषायान्तैर्लोभादीनामभावे परिग्रहेच्छा न जायते मूर्च्छादिपरिग्रहस्तदभावे प्रयत्नः कार्यः। पूर्वकारिकया कारणाभावे कार्यस्याभावः प्रतिपादितोऽनया पुनः कार्यस्याभावो निगदितः। अथवा पूर्वगाथोपसंहारार्थेयं गाथा तत एवमभिसम्बंधः कार्यः, हेतवः कारणानि प्रत्ययभूतानि कार्याणि हेतुविनाशे तेषां सर्वेषां विनाशो यतः कारणाभावे कार्यस्य चाभावस्ततो हेतुविनाशे यत्नः कार्यं इति ॥९८७॥

क्रोध, मान, माया, लोभ ये कषाय हेतु हैं। इन लोभादिकों के होने पर ही परिग्रहादि कार्य होते हैं। अतः इन हेतुओं के नष्ट हो जाने पर परिग्रह आदि (सज्ञाएँ) भी नष्ट हो जाती हैं। प्रमत्त नामक छठे गुणस्थान से लेकर क्षीणकषाय

पर्यन्त सभी साधुओं को इन हेतुओं का विनाश करना चाहिये, क्योंकि लोभ आदि कषायों के न रहने पर परिग्रह की इच्छा नहीं होती। ये मूर्च्छा आदि परिणाम ही परिग्रह हैं, इन्हें दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए।

पूर्व कारिका द्वारा कारण के अभाव में कार्य का अभाव प्रतिपादित किया गया है। पुनः इस गाथा द्वारा भी कार्य का अभाव कहा गया है। अथवा पूर्व गाथा के उसंपहार के लिये यह गाथा कही गयी है, अतः ऐसा सम्बन्ध करना कि हेतु कारण प्रत्यय हैं, परिग्रह आदि कार्य हैं। हेतु के नहीं रहने पर उन सब कार्यों का भी अभाव हो जाता है। क्योंकि कारण के अभाव में कार्य का अभाव अवश्यम्भावी है, इसलिये कारणों का नाश करने के लिए प्रयत्नशील होना चाहिये।

तीर्थंकर रूप निमित्त का प्रबल प्रभाव

परिणत दशा में प्रबल उत्तम, हेय निमित्तों का जीव के ऊपर तदनुकूल प्रभाव पड़ता है। निकट भव्य जीवों के लिये तीर्थंकर भगवान एक उत्कृष्ट प्रबल निमित्त हैं। इनके पादमूल का निमित्त प्राप्त करके भव्य जीव मुहूर्त मात्र में ही संसार रूप सागर को पार कर सकता है। चरणानुयोग के प्राचीनतम ग्रथ मूलराधना में आचार्य शिवकोटी ने निम्न प्रकार का वर्णन किया है—

अराधणाए तत्थ दु कालम्स बहुत्तणं ण हु पमाण।
बहवो मुहतामत्ता संसार महण्णवं तिण्पा ॥२०२६॥

(भग० आरा०)

शंका—अल्प समय में मोक्ष कैसे प्राप्त हो सकता है ?

समाधान—मुहूर्त मात्र में आराधना कर संसार समुद्र से उत्तीर्ण हो गये हैं। समय आराधना का अधिक ही होना चाहिये ऐसा नियम नहीं है।

खणमेत्तेण अणादिय मिच्छादिट्ठी वि विद्धणो राया।
उसहस्स पादमूले संबुज्झिता गदो सिद्धि ॥२०२७॥

(भग० आरा०)

अनादि मिथ्यादृष्टिवर्धन राजा ऋषभ भगवान के पादमूल में आत्मस्वरूप जानकर क्षण मात्र में निर्वाण को प्राप्त हुए।

सोलस्स तित्थयरराणं तित्थुप्पण्णस्य पढम दिवसम्मि।
सामण्णाण सिद्धि भिण्ण मुहूत्तेण संपण्णा ॥२०२८॥

(भग० आरा०)

ऋषभनाथ भगवान से शालिनाथ भगवान सोलह तीर्थंकर को जिस दिन दिव्य-ध्वनि हुई अर्थात् केवलज्ञाननोत्पन्न समय बहुत से मुनियों को केवलज्ञान और निर्वाण भिन्न (अंतः) मुहुर्त में प्राप्त हुआ।

आनादि मिथ्यादृष्टि, देशनालब्धि के बिना सम्यक्तव प्राप्त नहीं कर सकता। अनादि मिथ्यादृष्टि, तीर्थंकर का पादमूल प्राप्त कर प्रथमोपशम सम्यक्त्व संयम को प्राप्त करके क्षपकश्रेणी आरोहण करके मुहूर्त मात्र में सिद्ध पद को प्राप्त कर लेता है। अनादि मिथ्यादृष्टि तीर्थंकर के पादमूल के बिना उपरोक्त कार्य नहीं कर सकता है।

(भगवती आराधना)

अध्याय ४

मोक्षप्राप्ति के लिए निमित्त

द्रव्यदृष्टि से प्रत्येक जीव सिद्ध, बुद्ध, निष्कलंक, नित्यमुक्त होने पर भी पर्याय दृष्टि से कर्मबंधन से बद्ध होने के कारण संसारावस्था में स्वाभाविक स्वाधीनता को खोकर परतंत्र दुःख का अनुभव कर रहा है। स्वाधीन स्वतन्त्र सुख प्राप्त करने के लिए सम्पूर्ण कर्मरूपी बंधन से मुक्त होना अत्यन्त अनिवार्य है। सम्पूर्ण कर्मबंधन से मुक्त होने पर ही पूर्णरूप से शुद्ध स्वभाव की उपलब्धि होती है। जैनाचार्यों ने इष्टोपदेश में कहा भी है—

यस्य स्वयं स्वभावाप्तिरभावे कृत्स्नकर्मणः।

जिस सिद्ध मुक्त परमात्मा को सम्पूर्ण कर्म के नष्ट हो जाने पर अपने आप अपने शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति हो गई।

कर्म नष्ट करने के लिए योग्य उपादान एवं योग्य निमित्त की नितान्त आवश्यकता है। पूज्यपाद स्वामी ने इष्टोपदेश में कहा भी है—

अथ शिष्यः प्राह—स्वस्यस्वयं स्वरुपोपलब्धिः कथमिति? स्वस्यात्मनः स्वयमात्मना स्वरूपस्य सम्यक्त्वादि गुणाष्टकाभि-व्यक्तिरूपस्य उपलब्धिः कथं केनोपायेन दृष्टान्त भावादिति?

अत्राचार्यः समाधते :—

आत्मा स्वयं अपना शुद्ध स्वरूप किस प्रकार प्राप्त कर लेती है, इस बात को ग्रन्थाकार दृष्टांत सहित बतलाते हैं—

योग्योपादानयोगेन दृषदः स्वर्णता मता।
द्रव्यादिस्वादि संपत्तावात्मनोप्यात्मता मता ॥२॥ (इष्टोपदेश)

मता अभिप्रेता लोकैः। कासौ? स्वर्णता सुवर्णभावः। कस्य, दृषदः सुवर्णाविभवियोग्य पाषाणस्य। केन, योग्यानां सुवर्णपरिणामकरणोचितानां उपादानानां कारणानां योगेन मेलापकेन संपत्त्या यथा। एवमात्मनोऽपि पुरुषस्यापि न केवलं दृषदः इत्यपि शब्दार्थः। मता कथिता। कासौ? आत्मताआत्मनो जीवस्य भावो

निर्मल निश्चल चैतन्यं। कस्यां सत्यां? द्रव्यादि स्वादिसंपतौ द्रव्यमन्वयिभावः अदियेषां क्षेत्रकालभावनां ते च ते स्वादयश्च सुशब्दः स्वशब्दः स्वशब्दो वा आदियेषा ते स्वादयो द्रव्यादयश्च स्वादयश्च। इच्छातो विशेषण विशेष्य भावः इति समासः सुद्रव्यं सुक्षेत्रं सुकालः सुभावः इत्यर्थः। सुशब्दः प्रशंसार्थः प्राशस्त्यं चात्र प्रकृतकार्योपियोगित्वं द्रव्यादि-स्वदीनां सम्पत्तिः संपूर्णता तस्यां सत्यां ॥२॥

कार्य दो तरह के कारणों से होता है-- (१) उपादान कारण से, (२) निमित्त-कारण से। जो कारण स्वयं कार्यरूप बनता है, वह उपादान कारण होता है। उपादान कारण के सिवाय एवं दूसरे कारण जो कार्य बनने में सहायता करते हैं, वे निमित्त कारण होते हैं। जैसे—खान में सोने का पत्थर (सुवर्ण पाषाण) तभी शुद्ध सोना बनता है जब उसे सोना बनने योग्य आस-पास के सहायक कारणों का संयोग मिलता है। खान से निकला हुआ सुवर्ण-पाषाण उपादान करणा है एवं उसको शुद्ध करने वाला न्यारिया, सुनार आदि निमित्त कारण है। इसी प्रकार संसारी आत्मा भी शुद्ध परमात्मा तभी बनती है जब उसको मुक्त होने के योग्य द्रव्य (कुलीन मनुष्य), क्षेत्र (कर्मभूमि), काल (दुःषमा-सुषमाकाल), भाव (क्षपक श्रेणी के योग्य अपने सम्यक्त्व ज्ञान चारित्र भाव) प्राप्त होते हैं। मुक्त होने में संसारी आत्मा उपादान कारण होता है और मनुष्य भव, वज्रऋषभनाराचसंहनन, कर्मभूमि, चौथा काल आदि निमित्त कारण हैं। दोनों तरह के समस्त कारण मिलने पर ही मुक्ति रूप शुद्ध आत्मस्वरूप की प्राप्ति होती है।

उवसंतखीणमोहो मग्गं जिणमसिदेण समुवगदो।
णाणधुमग्गचारी णिव्वाणपुरं वजदि धीरो ॥७०॥ पं० का०

जो (पुरुष) जिनवचन द्वारा मार्ग को प्राप्त करके उपशांतक्षीण मोह होता हुआ (अर्थात् जिसे दर्शनमोह का उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम हुआ है ऐसा होता हुआ) ज्ञानानुमार्ग में विचरता है (ज्ञान का अनुसरण करने वाले मार्ग में बर्तता है), वह धीर पुरुष निर्वाणपुर को प्राप्त होता है।

अथात्रापि पूर्वोक्तमपि प्रभुत्वं पुनरपि कर्मरहितत्व मुख्यत्वेन प्रतिपादयति, उपसंतखीण मोहो उपशांत क्षीणमोहः अत्रोपशमशब्देनोपशमिसम्यक्त्व क्षीण शब्देन क्षायिक सम्यक्त्व द्वाभ्यां तु क्षायोपशमिक सम्यक्त्वमिति ग्राह्यं। मग्गं भेदाभेदरत्नत्रयात्मकं निश्चय व्यवहार मोक्षमार्गं, समुणगदो-समुपगतः प्राप्तः केन? जिणभासिदेण वीतरागसर्वज्ञभाषितेन। णाणं निर्विकारस्वसंवेदन ज्ञानं

अभेदेन तदाधारं शुद्धात्मानं वा, अणुअनुलक्षणीकृत्य समाश्रित्य तं ज्ञानगुणमात्मानं वा। मग्गचारीपूर्वोक्तनिश्चयव्यवहार मोक्षमार्गचारी। एवं गुणविशिष्टो भव्यवर पुण्डरीकः वजदि-व्रजति गच्छति। किं ? णिव्वाणपुरं अव्याबाधसुखाद्यनंत गुणास्पदं शुद्धात्मोपलंभलक्षणं निर्वाणनगरं। पुनरपि किंविशिष्टः स भव्यः। धीरो-धीरः घोरोपसर्गपरीषहकालेपि निश्चयरत्नत्रय-लक्षणसमाधेरच्युतः पाण्डवादिवदिति भावार्थः ॥७०॥

वीतराग सर्वज्ञ प्रणीत निश्चय तथा व्यवहार मोक्षमार्ग को प्राप्त करता हुआ अर्थात् अच्छी तरह समझता हुआ कोई भव्यों में मुख्य प्राणी निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञान को या ज्ञान के आधारभूत शुद्ध आत्मा को अपने लक्ष्य या आश्रय में लेकर उसी के अनुकूल निश्चय तथा व्यवहार मोक्षमार्ग पर चलता हुआ तथा उपशम सम्यक्त्व क्षयोपशम तथा क्षायिक सम्यक्त्व को पाता हुआ और परम धीरवीर होकर घोर उपसर्ग के सहने के समय में भी निश्चय रत्नत्रय मई समाधि को पांडवादि की तरह न त्यागता हुआ, मोह का सर्वथा क्षय करके अव्याबाध सुख आदि अनन्तगुण समूहरूप तथा शुद्धात्मा के लाभरूप निर्वाणनगर को चला जाता है ॥७०॥

"मोक्षस्यापि परमपुण्यातिशय चारित्रविशेषात्मक पौरुषाभ्यामेव सम्भवात्"

(अष्ट स०)

मोक्ष की प्राप्ति भी परमपुण्य अतिशय एवम् विशेष चारित्रात्मक पुरुषार्थ से सम्भव होती है।

उपरोक्त आगमोक्त सिद्धान्त से सिद्ध होता है कि जीव के शुद्ध स्वभाव की अभिव्यक्ति अन्तरंग उपादान कारण एवं योग्य बाह्य निमित्त कारणों के योगदान से ही सम्भव होती है।

तीर्थंकर प्रकृति के बंध के निमित्त

जिस कर्म के बन्ध होने पर अधिक से अधिक तीन भव ही रह जाता है जिस कर्म के बंध के बाद संसार अत्यन्त परित हो जाता है और जिसके प्रभाव से मोक्ष मार्ग अर्थात् धर्मतीर्थ का प्रवर्त्तन होता है। तीन लोक में, तीन काल में जो अद्वितीय पुण्यकर्म है उसके बंध के लिये भी उत्कृष्ट निमित्त चाहिये। कहा भी है—

पढमुवसमिये सम्मे सेसतिये अविरदादि चत्तारि।
तित्थयर बंध पारंभया णरा केवलि दुगंते ॥९३॥

(गो० कर्मकाण्ड)

प्रथमोपशम अथवा द्वितीयोपशम सम्यक्त्व में तथा क्षायोपशमिक या क्षायिक सम्यक्त्व में असंयत से अप्रमत्तगुणस्थान पर्यन्त मनुष्य ही तीर्थंकर प्रकृति के बंध का प्रारम्भ केवली अथवा श्रुत केवली के पादमूल में करते हैं।

भव्यत्व की अभिव्यक्ति के लिये निमित्त

प्रत्येक जीव स्वभावतः द्रव्य दृष्टि से भगवान होने पर भी अनादिकाल से संसारी जीव द्रव्य रूप से भगवान है किन्तु पर्याय रूप से भगवान नहीं है। स्वभावतः शक्ति रूप से प्रत्येक जीव भगवान होने पर भी व्यक्तिकरण (प्रगट), अव्यक्तिकरण (अप्रगट) आदि दृष्टिकोण से संसारी जीव के अनेक भेद हो जाते हैं। यथा (१) भव्य (२) निकट भव्य (३) दूरानूदूर भव्य (अभव्य समभव्य) (४) अभव्य।

भव्य— सम्यग्दर्शनादि भावेन भविष्यतीति भव्यः।

जिसके सम्यग्दर्शन आदि भाव प्रगट होने की योग्यता है वह भव्य है। अर्थात् जो भावीकाल में भगवान बनने वाला है या भावी भगवान को भव्य कहते हैं।

निकट भव्य—जो अति निकट भविष्यत काल में भगवान बनने वाला है वह आसन भव्य या निकट भव्य है।

दूर भव्य—जो सुदूरभावी काल में भगवान बनने वाला है, वह दूर भव्य है। ये पुनरिदमिदानी मेव वचः प्रतीच्छन्ति ते शिव श्रियो भाजनं समासन्नभव्याः भवन्ति। ये तु पुरा प्रतीच्छन्ति ते दूर भव्या इति।

जो उस (केवली भगवान का सुख सर्व सुखों में उत्कृष्ट है) वचन को इसी समय स्वीकार (श्रद्धा) करते हैं वे शिवश्री के भाजन आसन्न भव्य हैं और जो आगे जाकर स्वीकार करेंगे वे दूर भव्य हैं।

दूरानूदूर भव्य (अभव्य तुल्य भव्य)— जिसमें भव्यत्व शक्ति होते हुए भी (एक काल में योग्य सम्पूर्ण बाह्य निमित्तों के संयोग के अभाव में) अनंत भविष्यत काल में भी भव्यत्व शक्ति का व्यक्तिकरण नहीं होता है उसको दूरानूदूर भव्य कहते हैं। राजवार्तिक में अध्याय २ के सूत्र ७ में कहते हैं—

प्रश्न—योऽनन्तेनापि कालेन न सेत्स्यत्यसावभव्य एवेति चेत् ?

—जो अनन्त काल में भी सिद्ध नहीं होगा उसको अभव्य कहना चाहिये ?

उत्तर—न; भव्यराश्यन्तर्भावात् ।

—नहीं, क्योंकि उनका भव्य राशि में अन्तर्भाव होता है ।

शंका—स्योदेतत्—अनन्तकालेनापि यो न सेत्स्यत्यसौ अभव्य तुल्यत्व द-भव्य एव । अथ सेत्स्यति सर्वो भव्यः, तत उत्तरकालं भव्य शून्यं जगत् स्यादिति ?

—जो अनन्तानन्त काल में मोक्ष प्राप्त नहीं करेगा वह अभव्य तुल्य होने से अभव्य ही है । यदि सर्व भव्य मोक्ष में चले जायेंगे तो उत्तरकाल में जगत् भव्यों से शून्य हो जायेगा ?

समाधान—तन्न; किं कारणम् ? भव्यराश्यन्तर्भावात् । यथा योऽनन्तकाले-नापि कनक पाषाणो न कनकी भविष्यति न तस्यान्यपाषाणत्वं कनक पाषाणशक्ति योगात्, यथा वा आगामिकालो योऽनन्तेनापि कालेन नागमिष्यति न तस्यागमित्वं हीयते, तथा भव्य स्यापि स्वशक्ति योगाद् असत्यामपि व्यक्तौ न भव्यत्व हानिः ।

—ऐसा नहीं है, क्योंकि कभी भी मोक्ष में नहीं जाने वालों का भी भव्य-राशि में अन्तर्भाव होता है । जैसे कि उस कनक पाषाण को जो कभी भी सोना नहीं बनेगा, अन्ध पाषाण नहीं कह सकते – क्योंकि उसमें कनक पाषाणत्व शक्ति की योग्यता है । अथवा, आगामी काल को जो अनन्तकाल में भी नहीं आयेगा अनागामी नहीं कह सकने; उसी प्रकार सिद्धि व्यक्त न होने पर भी भव्यत्व शक्ति की योग्यता से भव्य को अभव्य नहीं कह सकते । वह भव्यराशि में ही शामिल है ।

अभव्य—जो अनंत भविष्यत काल में भी अभिव्यक्ति रूप से भगवान नहीं बन सकता है वह अभव्य है ।

"तव्विवरीयाऽभव्वा, संसारादो ण सिज्झंति" ।। ५५७।।गो० जी०।।

भव्य से विपरीत अभव्य है जो कभी भी संसार को पार कर सिद्ध अवस्था को प्राप्त नहीं कर सकता ।

भव्य जीव गर्भधारण शक्ति युक्त सधवा स्त्री के समान है । जैसे अबन्ध्या स्त्री योग्य पुरुष के संयोग से गर्भधारण करती है उसी प्रकार भव्य जीव भव्यत्व शक्ति संयुक्त होते हुए योग्य काल लब्धि, गुरु उपदेशादि निमित्तों को प्राप्त करके सम्यग्दर्शनादि को अभिव्यक्त कर लेता है । अभव्य जीव बन्ध्या के समान होते हैं । जैसे बन्ध्या स्त्री से कितने भी पुरुष संयोग करें तो भी गर्भधारण नहीं कर सकती है उसी प्रकार अभव्य जीव को कितने भी बाह्य निमित्त उपलब्ध होने पर भी सम्य-ग्दर्शनादि की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती है । दूरानदूर भव्य गर्भधारण शक्तियुक्त

विधवा सती स्त्री के समान होती है । जैसे विधवा-अबन्ध्या सती स्त्री को पुरुष संयोग उपलब्धि नहीं हो सकती है जिससे वह गर्भधारण नहीं कर सकती है उसी प्रकार दूरानदूर भव्य में भव्यत्व शक्ति होते हुए सी योग्य बाह्य सम्पूर्ण निमित्त कारणों का समवाय नहीं होने से उसकी भव्यत्व शक्ति प्रगट नहीं होती है उसे दूरान्दूर भव्य कहते हैं । अबन्ध्याऋतुमति सद्य विवाहित वधू के समान है जो कि योग्य पुरुष से निकट भविष्य में गर्भधारण करेंगी । इसी प्रकार भी निकट भव्य भी निकट भविष्यत काल में योग्य काललब्धि, गुरुपदेशादि को प्राप्त करके रत्नत्रय को प्रगट करेगा ।

प्रत्येक कार्य योग्य उपादान एवं निमित्त के सयोग से ही होता है । अबन्ध्या स्त्री में गर्भधारण की शक्ति होने पर भी अर्थात् उपादान होते हुए भी योग्य पुरुष संयोग अभाव अर्थात् योग्य बाह्य निमित्त के अभाव से गर्भधारण नहीं कर सकती है उसी प्रकार भव्य में उपादान होते हुए भी जब तक योग्य बाह्य निमित्त का संयोग नहीं होता है तब तक सम्यग्दर्शनादि प्रगट नहीं हो सकते हैं ।

बन्ध्या स्त्री में गर्भधारण करने की शक्ति नहीं होने से अनेक योग्य पुरुष संयोग होने पर भी गर्भधारण नहीं होता है उसी प्रकार अभव्य में भव्यत्व गुणरूपी उपादान का अभाव होने से बाह्य अनेक काललब्धि, गुरु उपदेशादि की प्राप्ति होने पर भी सम्यग्दर्शनादि प्रगट नहीं होते हैं ।

दूरान्दूर भव्य विधवा अवध्या स्त्री के समान है । जैसे— विधवा सती स्त्री का पुरुष संयोग नहीं होने से गर्भ धारण नहीं होता है उसी प्रकार दूरान्दूर भव्य को योग्य बाह्य निमित्तों का अभाव होने से सम्यग्दर्शनादि की प्राप्ति नहीं हो सकती है ।

जिस प्रकार कनक-पाषाण अग्नि आदि बाह्य साधन प्राप्त करके शुद्ध होता है उसी प्रकार भव्य जीव भी कालादि बाह्य निमित्त को प्राप्त करके सम्यक्त्व या मोक्ष को प्राप्त करता है । अग्नि संजोग के बिना जिस प्रकार शुद्ध स्वर्ण पाषाण शुद्ध स्वर्ण रूप नहीं हो सकता है उसी प्रकार भव्य जीव भी बिना योग्य बाह्य निमित्त से सम्यक्त्व या मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकता है । जिस प्रकार अंधस्वर्ण पाषाण अग्नि आदि बाह्य संयोगों से भी शुद्ध स्वर्ण रूप परिणमन नहीं कर सकता है उसी प्रकार अभव्य जीव कितना भी कालादि बाह्य निमित्त प्राप्त होने प. भी सम्क्त्वादि को प्राप्त नहीं कर सकता है । स्वर्णखान स्थित स्वर्णपाषाण भी यदि सुदूर भविष्यत काल तक अग्नि आदि बाह्य निमित्त को प्राप्त नहीं करता है तब तक शुद्ध स्वर्णरूप परिणत नहीं होता है, भले ही उसमें शुद्ध स्वर्णरूप परिणत होने की शक्ति हो । इसी प्रकार अभव्य समदूरान्दूरभव्य है ।

मुक्तिमनुपगच्छतां कथं पुनर्भव्यत्वमिति चेन्न, मुक्तिगमन योग्यापेक्षया तेषां भव्यव्यपदेशात् । न च योग्याः सर्वेऽपि नियमेन निष्कलङ्काभवन्ति सुवर्ण पाषाणेन व्यभिचारात् ।। धवला पु० १ सूत्र ।४। पृ० ३९३।७।।

प्रश्न– मुक्ति को नहीं जाने वाले जीवों के भव्यपना कैसे बन सकता है ?

उत्तर—नहीं, क्योंकि मुक्ति जाने की योग्यता की अपेक्षा उनके भव्य संज्ञा बन जाती है। जितने भी जीव मुक्ति जाने के योग्य होते हैं वे सब नियम से कलंक रहित होते हैं, ऐसा कोई नियम नहीं है, क्योंकि सर्वथा ऐसा मान लेने पर स्वर्ण-पाषाण में व्यभिचार आ जायेगा।

सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्र शक्तिरूप में प्रत्येक जीव में होते हुए भी व्यक्ति रूप में अभव्य जीव को प्राप्त नहीं होता है। अर्थात् द्रव्यदृष्टि से उपादान होते हुए भी पर्याय दृष्टि से अभव्य को रत्नत्रय की उपलब्धि नहीं होती है। अतः उपादान द्रव्य-दृष्टि से होने पर ही कार्य सम्पादन हो ऐसा नियम नहीं है। उसी प्रकार केवल निमित्त से उपादान के बिना भी कार्य नहीं हो सकता है। राजवार्त्तिक में भव्यत्व और अभव्यत्व शक्ति की अपेक्षा स्वीकार न करके अभिव्यक्ति की अपेक्षा स्वीकार किये हैं—

न सम्यग्दर्शनज्ञान चारित्र शक्ति भावाभावाभ्यां भव्याभव्यत्वं कल्प्यते। कथं तर्हि ॥२५॥ सम्यक्त्वादि व्यक्ति भावाभावाभ्यां भव्याभव्यत्वमिति विकल्पः कनकेतर पाषाणवत् ॥६॥ यथा कनकभाव व्यक्ति योगमवाप्स्यति इति कनकपाषाण इत्युच्यते तदभावादन्ध पाषाण इति। तथा सम्यक्त्वादि पर्याय व्यक्तियोगार्हायः स भव्यतद्वि-परीतोऽभव्यः इति चोच्यते ॥ रा० वा० ८।६।८-६।५७॥२५

भव्यत्व और अभव्यत्व विभाग ज्ञानदर्शन और चारित्र की शक्ति के सद्भाव और असद्भाव की अपेक्षा नहीं है।

प्रश्न—तो किस आधार से यह विकल्प कहा गया है ?

उत्तर—शक्ति को प्रगट होने की योग्यता और अयोग्यता की अपेक्षा है। जैसे जिसमें सुवर्ण पर्याय के प्रगट होने की योग्यता है वह कनकपाषाण कहा जाता है और अन्य अन्धपाषाण। उसी तरह सम्यग्दर्शनादि पर्यायों की अभिव्यक्ति की योग्यता वाला भव्य तथा अन्य अभव्य हैं।

उपरोक्त आगम सिद्ध तर्कबद्ध अनुभवगम्य और प्रत्यक्ष अविरुद्ध सिद्धान्त एवं दृष्टान्तों से सिद्ध होता है कि प्रत्येक जायमान कार्य योग्य सहकारी उपादान कारणों के सद्भाव से एवं विरुद्ध कारणों के अभाव से होता है। बिना कारण कार्य की उत्पत्ति असम्भव है। सिद्धान्तशास्त्र कषायपाहुड में कहा भी है—

ण च कारणेण विणा कज्जमुप्पज्जइ।
सव्वकालं सव्वस्स उत्पत्तिअणुप्पत्तिप्पसंगादो॥
(क० पा० ॥१, १३।२५६॥२६५।)

कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति मानना ठीक नहीं है, क्योंकि यदि ऐसा होने लगे तो सर्वदा सभी कार्यों की उत्पत्ति अथवा अनुत्पत्ति का प्रसंग प्राप्त होता है।

समर्थस्यकरणे सर्वदोत्पत्तिरनपेक्षत्वात् ॥ परीक्षामुख।६।६३॥

यदि पदार्थ स्वयं समर्थ होकर क्रिया करते हैं, तो सदा कार्य की उत्पत्ति होनी चाहिये, क्योंकि केवल सामान्य आदि कार्य करने में किसी दूसरे की अपेक्षा नहीं रखते।

जयधवला की चूर्णिसूत्र के कर्त्ता यतिवृषभाचार्य त्रिलोयपण्णत्ति भाग दूसरे में कार्य-करण के सम्बन्ध को बताते हुए कहे हैं—

कालस्स दो वियप्पा, मुक्खामुक्खा हवंति एदेसुं।
मुक्खाधार बलेणं, अमुक्ख-कालो पवट्टेवि ॥२८२॥
(ति० प० भाग २)

काल के मुख्य (निश्चय) और अमुख्य (व्यवहार) इस प्रकार दो भेद हैं। इनमें से मुख्य काल के आश्रय से अमुख्य (व्यवहार) काल की प्रवृत्ति होती है।

जीवाण पुग्गलाणं, हवंति परिवट्टणाइ विविहाइं।
एदाणं पज्जाया, वट्टंते मुक्ख-काल-आधारे ॥२८३॥
(ति० प० भाग २)

जीवों और पुद्गलों में विविध परिवर्तन हुआ करते हैं। इनकी पर्यायें मुख्य काल के आश्रय से प्रवर्तती हैं।

सव्वाण पयत्थाणं, णियमा परिणाम-पहुदि-वित्तीओ।
बहिरंतरंग हेदू हि, सव्वब्भेदेसु वट्टंति ॥२८४॥
(ति० प० भाग २)

सर्व पदार्थों के समस्त भेदों में नियम से बाह्य और आभ्यन्तर निमित्तों के द्वारा परिणामिक (परिणाम, क्रिया, परत्वापरत्व) वृत्तियाँ प्रवर्तती हैं।

बाहिर-हेदू कहिदो, णिच्छय-कालो त्ति सव्वदरिसीहिं।
अब्भंतरं णिमित्तं, णिय णिय दव्वेसु चेट्ठेदि ॥२८५॥
(ति० प० भाग २)

सर्वज्ञदेव ने निश्चय काल को सर्व पदार्थों के प्रवर्तन का बाह्य निमित्त कहा है। अभ्यन्तर निमित्त (स्वयं) अपने-अपने द्रव्यों में स्थित है।

विभिन्न उदाहरण

आधुनिक वैज्ञानिक लोग भी कार्य-कारण सम्बन्ध को पूर्णरूप से स्वीकार करते हैं। वे तो अनेक शोध-बोध-आविष्कार-निर्णय कार्य-कारण सम्बन्ध से ही सिद्ध करते हैं। जैसे प्रत्येक द्रव्य की गति के लिए माध्यम चाहिये। प्रकाश भी पुद्गल की पर्याय विशेष होने से उनकी गति के लिए माध्यम की आवश्यकता को अनुभव करते थे। परन्तु भौतिक वैज्ञानिक साधनों से एवं इन्द्रियों से उस माध्यम का शोध-बोध नहीं होने से वैज्ञानिक कार्य-कारण सम्बन्ध, तर्क और अनुमान से उस माध्यम का शोध किया जिसका नाम ईथर रखा गया है। कहने का तात्पर्य है कि जहाँ कार्य हो वहाँ कारण की आवश्यकता अनिवार्य है। वैज्ञानिक जगत् के सूर्य समान तेजस्वी, महामेधावी आइनस्टीन ने भी प्रत्येक कार्य के लिए ४ आयाम वाले सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है—यथा (१) द्रव्य, (२) गति, (३) अवकाश (आकाश या क्षेत्र), (४) काल या समय।

(१) बीज में अंकुर होने की शक्ति होने पर भी योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव (परिस्थिति) नहीं मिलेगा तब तक बीज अंकुरित नहीं हो सकता है। एक योग्य बीज को निर्वात (वायु, जल से शून्य) पेटी में रखा जायेगा, तब वह बीज अंकुरित नहीं हो सकता है। अंकुर शक्ति रहित बीज को योग्य जल-वायु आदि मिलने पर भी अंकुरित नहीं होगा।

(२) चावल में भात होने की उपादान शक्ति होने पर भी अग्नि, जलादि बाह्य निमित्त पानी, अग्नि, पात्र आदि का संयोग हुए बिना उपादान शक्ति की अभिव्यक्ति नहीं होगी जिसके कारण चावल भात रूप पर्याय को प्राप्त नहीं कर सकता है।

(३) मूंग में पक्व होने की उपादान शक्ति होने पर भी अग्नि, जलादि बाह्य निमित्त के संयोग बिना उपादान शक्ति की अभिव्यक्ति नहीं होगी जिससे मूंग पक्व रूप परिणत नहीं हो सकता है। भट्टा (ठर्रा) मूंग को पानी, अग्नि आदि का कितना भी बाह्य निमित्त उपलब्ध होने पर भी वह पक्व नहीं होता है क्योंकि उसमें पक्व होने रूप उपादान शक्ति का अभाव है।

(४) आटा में रोटी बनने की उपादान शक्ति होने पर भी जब तक बाह्य अग्नि, जलादि निमित्त नहीं मिलते हैं तथा बनाने वाला योग्य रीति से नहीं बनाता है तब तक वह आटा, रोटी रूप परिणमन नहीं करता है। यदि ऐसा माने जावें तो आटा बर्तन में रखा हुआ भी रोटी बन जावेगा।

(५) तिल में तेल होने पर भी जब तक तेल निकालने वाला कोल्हू या तेल मशीन में डालकर पीसता नहीं है तब तक तेल नहीं निकलता है।

बालू में तेल नहीं होने से बालू को कितना भी यत्नपूर्वक पीसा जावे तो भी उसमें से तेल नहीं निकलता है।

(६) एक ही कक्षा में एक ही गुरुजी के अनेक विद्यार्थी होते हैं। गुरुजी के समान पढ़ाने पर भी एक विद्यार्थी अत्यन्त दक्ष हो जाता है, किन्तु कुछ विद्यार्थी मध्यम श्रेणी में तथा कुछ जघन्य स्थान को प्राप्त होते हैं, और कुछ अनुत्तीर्ण भी हो जाते हैं। इसी प्रकार वैसम्यता का कारण उपादान शक्ति का तारतम्य है। यह तो हुई उपादान दृष्टि। परन्तु जब हम व्यवहार दृष्टि देखेंगे तो विद्यार्थी जो विद्या अध्ययन किये उसमें अपनी उपादान शक्ति के साथ-साथ बाह्य गुरुजी, पुस्तक, जल, वायु, प्रकाश, वातावरण परिस्थिति का भी योगदान रहता है। कुछ अलौकिक विभूतियों का अपवाद उदाहरण को छोड़कर उत्सर्ग मार्ग में जो साधारण जन शिक्षा, दीक्षा, विद्या, कला सीखते हैं उसके लिए गुरु, तदनुकूल उपकरण आदि की परमावश्यकता है। यदि बाह्य निमित्त की आवश्यकता नहीं होती तो स्कूल, कॉलेज, विश्वविद्यालय, शिक्षण संस्था, गुरुओं आदि की कोई आवश्यकता नहीं होती। परन्तु देखा जाता है कि क्या लौकिक, क्या परमार्थिक दोनों क्षेत्रों में विद्यादि प्राप्ति के लिए गुरु आदि की आवश्यकता पड़ती है।

(७) रोग की उत्पत्ति पूर्वोपार्जित पापकर्म के उदय से होती है। पापकर्म के साथ-साथ अयोग्य आहार-विहार, बाह्य वातावरण का भी योगदान रहता है क्योंकि कर्म का उदय भी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को लेकर होता है। रोग का उपशमन पापकर्म के उपशमन से होता है। यह अन्तरंग उपादान कारण है। यदि तीव्र पापकर्म का उदय है तब बाह्य औषधादि का प्रभाव नहीं होता है। किन्तु जब पापकर्म का उपशमन होता है तब बाह्य औषधादि उपचार से रोग उपशमन हो जाता है।

(८) क्षुधावेदनीय कर्म के उदय से भूख लगती है। क्षुधावेदनीय कर्म के उपशम से क्षुधा का उपशम और क्षय से पूर्णरूप से क्षुधा का क्षय हो जाता है। परन्तु जब तक संसारावस्था में क्षुधावेदनीय कर्म का पूर्ण उपशमन नहीं होता है, तब तक संसारी जीव विशेषतः नर एवं तिर्यञ्च क्षुधा का उपशमन करने के लिए भोजन रूपी बाह्य निमित्त का सेवन करते हैं। यदि केवल उपादान से ही कार्य मानकर दीर्घकाल तक कवलाहारी जीव भोजन नहीं करेंगे तब तो शारीरिक शक्ति क्षीण के साथ आयु क्षीण होने की भी संभावना है।

(९) जिनके चक्षु इन्द्रियावरण कर्म का क्षयोपशम नहीं है ऐसे एकेन्द्रिय से लेकर त्रयेन्द्रिय तक जीव बाह्य उपकरण से भी चक्षु से पदार्थ का ज्ञान नहीं कर सकते हैं। जिसके अन्तरंग चक्षुइन्द्रिय का क्षयोपशम होने पर भी चक्षुइन्द्रिय रूपी

उपकरणों का अभाव है, या खराबी है तो भी वह नहीं देख सकता है, जैसे अन्धा व्यक्ति। जिसकी दृष्टि शक्ति कुछ क्षीण हो गई हो वह वस्तु को स्पष्ट रूप से नहीं देख सकता है, परन्तु योग्य प्रतिचक्षु (चश्मा) के माध्यम से स्पष्ट देखता है, परन्तु दृष्टिशक्ति पूर्णक्षीण होने पर कितने भी शक्तिशाली चश्मे या सूक्ष्मदर्शक या दूर-दर्शक यन्त्र से भी नही देख सकता है। इससे सिद्ध होता है कि अन्तरंग कारण एवं बहिरंग कारण की नितान्त आवश्यकता होती है।

(१०) गाड़ी में गमन करने की शक्ति (क्रियावती शक्ति) होने पर भी तद्योग्य ईंधन के अभाव (कोयला, पेट्रोल, विद्युत, वाष्पादि) में गाड़ी नही चल सकती है। यदि बिना ईंधन गाड़ी क्रियावती शक्ति से चलती, तब गाड़ी को चलाने के लिए पेट्रोलादि की आवश्यकता क्यों होती? चलती हुई गाड़ी ईंधन के समाप्त होने पर क्यों रुकती? गाड़ी चलाने के लिये ईंधन क्यों डालते? रास्ता आदि जंगल में पेट्रोलादि ईंधन के समाप्त होने पर गाड़ी केवल क्रियावती शक्ति से नहीं चलती है इसलिये तो अधिक पेट्रोल लेकर यात्रा प्रारम्भ करते हैं। ईंधन आदि समाप्ति के पूर्व ही ईंधनादि अधिक संग्रह करके रखा जाता है।

(११) कर्मोदय से बाह्य वातावरण के अनुसार ठंडी-गर्मी की अनुभूति होती है, उससे बचने के लिये तद्योग्य वातानुकूल आवास स्थान, पोषक आहार, पानी का सेवन करते हैं। यदि निमित्त का कोई प्रभाव नहीं होता तब उपरोक्त योग्य सामग्री की भी आवश्यकता नहीं होती। लज्जादि निवारण करने के लिये या सौन्दर्य को निखारने के लिये भी वस्त्रों का प्रयोग करते हैं।

(१२) रेडियो, टी० वी०, टेलीफोन आदि केन्द्र से संवाद आदि का संप्रेषण होता है। वे तरंगें क्षिप्र गति से आकाश में फैलती जाती हैं। वे तरंगें अनेक जीवों के शरीर, आँख, कान, को टकराती हुई आगे-आगे बढ़ती जाती हैं, परन्तु दूरस्थ व्यक्ति उस तरंग को ग्रहण नहीं कर पाता है, किन्तु रेडियो, टी० वी० आदि रिसीवर के माध्यम से तरंगों को ग्रहण करने में समक्ष होता है। उपादान रूप से तरगें होते हुए भी योग्य बाह्य निमित्त के अभाव से स्पष्ट व्यक्तिकरण नहीं होता है, परन्तु रेडियो, टी० वी० आदि से तरंगें स्पष्टीकरण एवं व्यक्तिकरण होने पर संवाद, गाना, चित्र, खेल, नाटक आदि देखने एव सुनने के लिये समर्थ होता है।

(१३) विज्ञान की अपेक्षा जल, हाइड्रोजन और ऑक्सीजन के सम्मिश्रण से बना हुआ है परन्तु योग्य H_2O का संयोग नही होगा तब तक जल नहीं बन सकता है। अनुपात में कम-अधिक होने पर भी जल नहीं बनता है।

(१४) विद्युत दीप प्रकाशित या प्रज्ज्वलित होने के लिये विद्युत शक्ति एवं टंगस्टन वायर युक्त बल्ब की आवश्यकता होती है। विद्युत् शक्ति के अभाव से विद्युत् दीपक प्रज्ज्वलित नहीं होता है। विद्युत् शक्ति होते हुए भी टंगस्टन वायर के अभाव में विद्युत्दीपक प्रज्ज्वलित नहीं होता है।

(१५) रेडियो आदि केन्द्र से संवाद आदि संप्रेषण होने पर भी एयं रेडियो आदि चालू होने पर भी विद्युत् आदि शक्ति के अभाव से संवादादि का ग्रहण नहीं हो सकता है, जैसे दिल्ली से संवाद संप्रेषण हो रहा है। एक व्यक्ति ने रेडियो का दिल्ली सेंटर चालू किया परन्तु उस रेडियो में विद्युत् आदि शक्ति का अभाव है, तब वह रेडियो उस तरंगों को ग्रहण नहीं कर सकता है, एवं संवर्धन नहीं कर सकता है, जिससे वह व्यक्ति उस संवाद को नहीं सुन सकता है। इसी प्रकार टी० वी० आदि में यह सिद्धान्त लागू होता है। रेडियो में विद्युत् शक्ति है, दिल्ली का सेंटर खुला है परन्तु दिल्ली से संवाद आदि संप्रेषण नहीं होता है तो वह रेडियो संवाद को अभिव्यक्त करने में असमर्थ होगा। संवाद संप्रेषण हो रहा है, रेडियो का स्टेशन चालू है, विद्युत् शक्ति भी है, किन्तु बादल की गर्जना से संवाद स्पष्ट से सुनाई नहीं देता है।

(१६) जीवन पर्याय को धारण करने के लिए आयुकर्म अंतरंग कारण है परन्तु योग्य प्राणवायु के अभाव से अकाल मरण के योग्य जीवों का अकाल मरण भी सम्भव है।

(१७) मोक्ष के लिये आत्मा ही उपादान कारण है, परन्तु जब तक वज्र-वृषभनाराचसहनन, मनुष्यगति, उच्चगोत्र, भावसंयम सहित द्रव्यसंयम, योग्यकाल (चतुर्थादि काल), योग्य क्षेत्र (आर्यादि क्षेत्र, ढाई द्वीप) आदि का संयोग न होने पर भी मोक्ष नहीं हो सकता है।

(१८) चुम्बक आकर्षण शक्ति युक्त होने से योग्य क्षेत्र में स्थित लोहखंड को आकर्षण करता है, क्योंकि चुम्बक में आकर्षण की शक्ति है, और लोह में आकर्षित होने की शक्ति है। यदि लोह में आकर्षित होने की शक्ति नहीं होती तब चुम्बक आकर्षण शक्ति युक्त होते हुए भी लोहा को आकर्षित नहीं कर सकता था जैसे ईंट, पत्थर, लकड़ी आदि में आकर्षित होने की शक्ति न होने से चुम्बक उसे आकर्षित नहीं कर सकता है। लोहे में आकर्षित होने की शक्ति होने पर भी चुम्बक में आकर्षण की शक्ति नहीं होती तो लोह आकर्षित नहीं होता जैसे साधारण पत्थर या लोहा में आर्कषण करने की शक्ति न होने से अन्य एक लोहा आकर्षित नहीं होता है। यदि दूर चुम्बकी क्षेत्र के बाह्य में लोह होने पर भी चुम्बक लोह को आकर्षित नहीं कर सकता है। लोह चुम्बकीय क्षेत्र में होने पर बीच में बाधक कारण

होने पर जैसे लकड़ी, ईंट, पत्थर बीच में आने पर चुम्बक लोह को आकर्षित नहीं कर सकता है।

(१९) दर्पण में प्रतिबिम्बित करने की शक्ति होने पर भी यदि दर्पण के ऊपर अधिक धूल जम जाती है, तब प्रतिबिम्ब स्पष्ट नहीं दिखाई देता है। दर्पण के पीछे लगे हुये लेप को हटा दिया जावे तो भी प्रतिबिम्ब स्पष्ट दिखाई नहीं देगा।

(२०) काला, पीला आदि रंग के चश्मे के प्रयोग से सफेद वस्तु भी काले-पीले रूप में दिखाई देती है। यह चश्मे रूपी निमित्त का प्रभाव है। मिट्टी, पत्थर आदि का वर्ण पीला नहीं होने पर भी पीलिया रोग के कारण पीलिया रोगी मिट्टी, पत्थर को पीला देखता है।

(२१) बीज में अंकुर होने की शक्ति होने पर भी योग्य काल के अभाव में भी अंकुर नहीं होता है। जैसे सरसों के अंकुर होने के लिये कुछ घंटे, धनिया के अंकुर के लिये कुछ दिन एवं नारियल बीज को अंकुरित होने के लिये कुछ महीने (५-६ महीने) लगते हैं।

(२२) कन्या में गर्भधारण की शक्ति होने पर भी ऋतुस्नान के पहले-पहले गर्भधारण की शक्ति व्यक्त नहीं होती है।

(२३) चूना का वर्ण सफेद है एवं हल्दी का वर्ण पीला है, दोनों के संयोग से लाल वर्ण हो जाता है।

(२४) जीव की योग-उपयोग शक्ति प्राप्त किये बिना कर्मवर्गणा कर्मरूप में परिणमन होकर जीव को सुख-दुःख देने में असमर्थ रहती है। जीव की योग-उपयोग शक्ति को प्राप्त करके उसमें फल देने की शक्ति संचार होती है। जीव की योग-उपयोग शक्ति संचार होती है। जीव की योग-उपयोग शक्ति को प्राप्त किये बिना कर्म वर्गणा धूली एवं राख के समान है, किन्तु वही कर्म वर्गणा जीव की योग-उपयोग शक्ति को प्राप्त करके विद्युत शक्ति, बमशक्ति, या उससे भी हीनाधिक शक्ति संचार हो जाती है। क्योंकि कर्म वर्गणा में में कर्मरूप परिणमन की शक्ति है एवं राग-द्वेष में परिणमाने की शक्ति है। रागद्वेष के अभाव से कर्म वर्गणायें रहते हुये भी सिद्ध भगवान में राग-द्वेष का अभाव होने से कर्म वर्गणायें कर्मरूप परिणमन नहीं करती हैं। सम्पूर्ण लोक में २३ वर्गणायें होते हुये भी एवं सम्पूर्ण लोक में राग-द्वेष मुक्त संसारी जीव होते हुये भी रागद्वेष के निमित्त को प्राप्त करके भी कर्म वर्गणाओं को छोड़कर अन्य २२ वर्गणायें कर्मरूप में

परिणमन नहीं करती हैं क्योंकि उनमें कर्मरूप परिणमन करने की योग्यता नहीं है।

उपरोक्त आगम, तर्क लौकिक, वैज्ञानिक सिद्धांत एवं उदाहरणों से सिद्ध होता है कि लौकिक, पारलौकिक, आध्यात्मिक कार्य सम्पादन करने के लिये योग्य उपादान और निमित्त कारणों की आवश्यकना है।

वस्तुस्वरूप अनेकान्तात्मक होने से सत्य के अनेक पहलू होने से वस्तु को जानने के लिये भी अनेकान्तात्मक दृष्टि, सापेक्ष विचार की आवश्यकता है। वस्तु-स्वरूप जैसे हो उसको उसी प्रकार मानना (विश्वास या श्रद्धान) सम्यग्दर्शन है, जानना (परिज्ञान करना) सम्यग्ज्ञान है, तदनुकूल आचरण करना सम्यक्चारित्र है। वस्तुस्वरूप को न न्यून जानना, न अधिक जानना, न विपरीत जानना और मानना चाहिये परन्तु यथार्थ जानना ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान है। इसीलिये कार्यकारण सम्बन्ध में निमित्त उपादान में अपनी-अपनी योग्य भूमिका को स्वीकार करना सम्यक्त्व है। तद्विपरीत स्वीकार करना मिथ्यात्व है। सर्वज्ञप्रणीत परम्परा प्रमाणित आचार्यों द्वारा प्रतिपादित आगमानुकूल निमित्त उपादान को निरपेक्ष भाव से स्वीकार करना सम्यग्दृष्टि का लक्षण है, और अस्वीकार करना मिथ्यादृष्टि का लक्षण है। हमको मिथ्यात्वदूषण से दूर होने के लिये एवं सम्यक्त्वभूषण से विभूषित होने के लिये आगमोक्त निमित्त उपादान को स्वीकार करना चाहिये।

'नमो अनेकान्ताय।
जैनं जयतु शासनम् ॥'

अभीक्ष्ण-ज्ञानोपयोगी, सिद्धांत चक्रवर्ती, एलाचार्य, उपाध्याय श्री कनकनन्दीजी द्वारा रचित ग्रन्थ

आपको जानकर हर्ष होगा कि जैन धर्म की वैज्ञानिकता, दार्शनिकता एवम् तत्त्वज्ञता से सभी वर्गों के परिचय हेतु—'धर्म दर्शन विज्ञान शोध प्रकाशन' कार्यरत हैं। वर्तमान वैज्ञानिक युग की पीढ़ी, बुद्धिजीवी वर्ग एवं जैन-जैनेतर बन्धुओं की मानसिकता को दृष्टिगत कर रची गई सभी पुस्तकें आपको स्वयं अपने अन्तर्मन में उमड़ते प्रश्नों का ही उत्तर प्रतीत होंगी।

उपाध्याय कनकनन्दी जी की लेखनी से भूगोल, विज्ञान, भौतिक विज्ञान, जीवविज्ञान, राजनीति, रसायन विज्ञान, खगोल, यन्त्र, मन्त्र, तन्त्र, आयुर्वेद, मनोविज्ञान, ऋद्धि, सिद्धि, स्वप्न विज्ञान, ध्यान-योग, इतिहासादि सभी को विभिन्न दृष्टिकोणों से प्रस्तुत किया गया है।

प्रकाशित पुस्तकें :

(1) धर्म विज्ञान बिन्दु (मूल्य 15·00 रु०)
(2) धर्म ज्ञान एवं विज्ञान (हिन्दी व अंग्रेजी) (मूल्य 15·00 रु०)
(3) भाग्य एवं पुरुषार्थ (हिन्दी व अंग्रेजी) (मूल्य 15·00 रु०)
(4) Fate and Efforts (मूल्य 15·00 रु०)
(5) व्यसन का धार्मिक वैज्ञानिक विश्लेषण (हिन्दी) (मूल्य 20·00 रु०)
(6) Nakedness of Digamber Jain Saints and Kesh-Lonch. (Rs. 5·00)
(7) जिनार्चना पुष्प–I एवं II (मूल्य 21·00 रु० प्रति भाग)
(8) धर्म एवं स्वास्थ्य विज्ञान पुष्प–I एवं II (मूल्य 20·00 रु० प्रति भाग)
(9) पुण्य-पाप मीमांसा (मूल्य 15·00 रु०)
(10) निमित्त उपादान मीमांसा (मूल्य 7·00 रु०)
(11) धर्म दर्शन एवं विज्ञान (मूल्य 21·00 रु०)
(12) क्रांति के अग्रदूत (मूल्य 10·00 रु०)
(13) लेश्या-मनोविज्ञान (मूल्य 6·00 रु०)
(14) ऋषभ पुत्र भरत से भारत (मूल्य 10·00 रु०)
(15) ध्यान का एक वैज्ञानिक विश्लेषण (मूल्य 15·00 रु०)
(16) अनेकान्त दर्शन (मूल्य 20·00 रु०)
(17) कर्म का दार्शनिक एवं वैज्ञानिक विवेचन (मूल्य 25·00 रु०)

(18) युग निर्माता ऋषभदेव (मूल्य 15·00 रु०)
(19) विश्व शान्ति के अमोघ उपाय (मूल्य 10·00 रु०)
(20) मनन एवं प्रवचन (मूल्य 5·00 रु०)
(21) अहिंसामृतम् (मूल्य 7·00 रु०)
(22) विनय मोक्षद्वार (मूल्य 5·00 रु०)
(23) क्षमा वीरस्य भूषणं (मूल्य 15·00 रु०)
(24) संगठन के सूत्र (मूल्य 10·00 रु०)
(25) अतिमानवीय शक्ति (मूल्य 21·00 रु०)
(26) मन्त्र विज्ञान (मूल्य 10·00 रु०)
(27) Philosophy of Scientific Religion (Rs. 15·00)
(28) दिगम्बर जैन साधु का नग्नत्व एवं केशलोंच (हिन्दी, अंग्रेजी, मराठी व गुजराती) (मूल्य 5·00 रु० प्रति पुस्तक)
(29) धर्म दर्शन विज्ञान प्रवेशिका पुष्प–I एवं II (मूल्य 5·00 रु०)
(30) संस्कार (हिन्दी व अंग्रेजी) (मूल्य 5·00 रु०)
(31) भगवान् महावीर और उनका दिव्य संदेश (मूल्य 5·00 रु०)
(32) विश्व विज्ञान रहस्य (मूल्य 100·00 रु०)
(33) Religious and scientific analysis of Vyasan (Rs. 20·00)
(34) स्वप्न विज्ञान (मूल्य 25·00 रु०)
(35) त्रैलोक्यपूज्य ब्रह्मचर्य (मूल्य 12·00 रु०)
(36) आत्मोत्थानोपाय: तप (मूल्य 9·00 रु०)
(37) तत्त्वानुचिन्तन (मूल्य 15·00 रु०)
(38) विश्व इतिहास (मूल्य 25·00 रु०)
(39) शकुन विज्ञान (मूल्य 25·00 रु०)
(40) बाल धर्म विज्ञान (मूल्य 8·00 रु०)
(41) कथा सुमन मालिका (मूल्य 15·00 रु०)
(42) 72 कलायें (मूल्य 5·00 रु०)
(43) हिंसामय यज्ञ का प्रारम्भ क्यों (मूल्य 7·00 रु०)
(44) कथा–सौरभ
(45) कथा–पारिजात (मूल्य 15·00 रु०)
(46) धर्म प्रवर्तक चौबीस तीर्थंकर (मूल्य 5·00 रु०)
(47) जीने की कला
(48) संस्कार (बृहत्)
(49) कथा चिन्तामणि
(50) सत्य धर्म

संस्था के नियम :

प्रकाशन की ओर से साधु-संघों, स्वाध्याय शालाओं, धार्मिक शिक्षण

संस्थाओं, शोधरत छात्रों, असमर्थ भाई-बहिनों को पुस्तकें निःशुल्क भेंट की जाती हैं। पूरा सेट क्रय करने पर पुस्तकालय, वाचनालय शिक्षण संस्थाओं के लिए 25% छूट से शास्त्र भेज दिये जायेंगे। सामान्य स्वाध्याय प्रेमियों के लिए 10% छूट है, डाक खर्च अलग से है। आजीवन सदस्य के लिए सदस्यता शुल्क 2101·00 रु० है। रुपये अग्रिम भेजने की आवश्यकता है। द्रव्यदाता, आजीवन–सदस्य, कार्यकर्त्ताओं को संस्था की समस्त पुस्तकें निःशुल्क मिलती हैं। आर्थिक दृष्टि से समर्थ सामान्य व्यक्ति से उचित मूल्य इसलिए प्राप्त किया जाता है कि जिससे साहित्य का अवमूल्यन न हो, योग्य व्यक्ति को साहित्य प्राप्त हो, साहित्य का आदर हो, साहित्य प्रकाशन के लिये ज्ञान दान (सहयोग) हो, साधु आदि को निःशुल्क साहित्य भेजने में आर्थिक आपूर्ति हो एवं उस सहयोग से अधिक से अधिक साहित्य प्रकाशन, प्रचार, प्रसार हो। द्रव्यदाता को उस द्रव्य से प्रकाशित प्रतियों की एक दशमांश प्रतियाँ भी निःशुल्क प्राप्त होंगी। पुस्तकें छपवाने वाले यदि लागत रुपयों में से कुछ रुपये देने में असमर्थ होंगे तो संस्था उसकी आर्थिक सहायता के साथ-साथ अन्यान्य सहायता करके उनके नाम पर ही उसकी पुस्तक छपवा देगी। इसमें संस्था का कोई निहित स्वार्थ नहीं है परन्तु ज्ञान-प्रचार का एकमात्र उद्देश्य है।

निवेदक

धर्म-दर्शन विज्ञान शोध प्रकाशन
निकट दिगम्बर जैन अतिथि भवन
बड़ौत–250611 मेरठ (उ० प्र०)

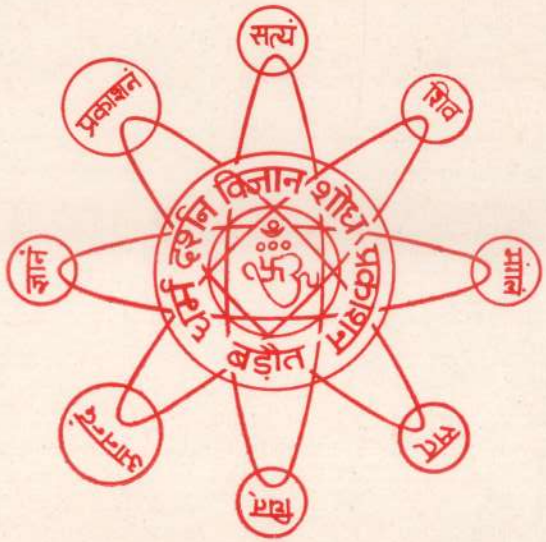

मुद्रक : प्रैसीडेण्ट प्रेस, 90 विवेकानन्द पथ, मेरठ कैण्ट।

दूरभाष : 76708, 73143